प्रभात प्रकाशन , दिल्ली

आज़ादी की मशालें

के. के. खुल्लर

दिल्ली

मार्ग था स्वराज्य और स्वधर्म का। धर्म के मर्म को पहचानकर ही दासता की बेड़ियों को काटने की आस उन्होंने अपने मन में सँजोई थी। आचार्य चाणक्य का यह कथन उनके सामने था कि दासता को स्वीकार न करने वाला ही सच्चा आर्य है। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि—एक पल की दासता सत् कोटि नरक समान है। और यह दासता देश के नैतिक तथा आर्थिक पतन का कारण भी है। अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण की चुभन भी उनमें विद्यमान थी, तभी तो स्वधर्म और स्वराज्य १८५७ के क्रान्तिदूतों का नारा था, जिससे अन्य क्रान्तिकारियों ने प्रेरणा तथा उत्साह ग्रहण किया।

धर्म और देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले पुरोधाओं की जीवन-गाथाएँ हमें नयी स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करने मे समर्थ होंगी। आज की नयी पीढी को स्वतन्त्रता विरासत मे प्राप्त हुई है, इसलिए वह कर्तव्य-च्युत और पथ-विमुख होती जा रही है, नैतिकता का ह्रास तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा है। आपाधापी के इस काल मे इन महान आत्माओं और शहीदों की जीवन-गाथाएँ हम सबका मार्ग-दर्शन कर हमें अपने नैतिक कर्तव्य का बोध कराने में समर्थ होंगी, ऐसी आशा है। यदि इस पुस्तक से आज की पीढ़ी को कुछ भी दिशा-बोध हो सका तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

—प्रकाशक

अनुक्रम

शाह अब्दुल लतीफ और सामयिक भारतीय संस्कृति

वर्ष था सन् १७५२ का और वह महीना था जब सिंध में क्रौंच वियोग में बिलखते हैं और प्रेमी जन मुरझाते हैं, यानि मई का महीना—आंधी और लू का महीना। ऐसे समय में काले रंग का लम्बा-सा कुर्ता और सफेद कुल्ला पहने एक दरवेश लाठी के सहारे मरुस्थल पार कर रहा था। तभी कच्छ के पास वांग विलासुर नामक स्थान पर एक ऊंट-सवार ने उन्हें रोका—"ओ महान शाह! यह नाचीज शागिर्द आपको सलाम करता है। इस मरुस्थल में आप कहां जा रहे हैं?" सन्त ने जवाब दिया—"कर्बला जा रहा हूं, मेरे बच्चे! मेरा दिल कर्बला जाने के लिए तरस रहा है।"

"हे परम पिता! आप तो हमेशा ही अपने लोगों को यह आदेश देते रहे हैं कि आप को सिंध प्रदेश में भीत नामक स्थान पर दफनाया जाये। फिर आपने अपना यह इरादा क्यों बदल दिया? अब जिन्दगी के आखिरी दिनों में आप अपनी मातृभूमि क्यों छोड़ रहे हैं?" इतना कहकर वह दाची (ऊंट-सवार) चला गया।

इस नौजवान के शब्दों ने सन्त का दिल पिघला दिया और वह वापिस भीत लौट गये, जहां कुछ ही दिनों बाद उनका देहान्त हो गया। ये महान सन्त थे, शाह अब्दुल लतीफ, अमर 'रीसालो' के सर्जक। फारसी जबान में हाफीज, रूमी, सादी तथा पंजाबी जबान में फरीद और वारिसशाह का जो स्थान है, वही स्थान सिंधी भाषा में शाह अब्दुल लतीफ का है। उन्होंने सिंधी जुबान में वही कार्य किया जो चौसर ने अंग्रेजी में और फरीद ने पंजाबी में किया। वे कविता को सिंधी में ले आये और सिंधी को काव्यमय बना दिया।

भारत के दो हजार वर्षों से भी अधिक पुराने कीर्तिमान इतिहास की अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं का आलोचनात्मक तथा गहन विश्लेषण हमें बताता है कि हर तीन सौ वर्षों के बाद यहां एक ऐसा आन्दोलन हुआ जो इस देश के हृदय

को बहा ले गया और, उसने जाति, रंग, धर्म और सम्प्रदाय की सभी दीवारों को तोड़कर धीरे-धीरे एक धार्मिक आन्दोलन को जन्म दिया। आखिर में ऐसे ही किसी न किसी आन्दोलन के फलस्वरूप दूरगामी राजनीतिक परिणाम निकले हैं।

जब ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व ब्राह्मणवाद की अस्थियों पर बौद्ध धर्म उठ खड़ा हुआ तब यह मान लिया गया था कि ब्राह्मणवाद हमेशा के लिए खत्म हो गया। परन्तु, ऐसा नहीं हुआ। उसके ठीक तीन सौ वर्ष बाद अशोक के समय में बौद्ध धर्म स्वयं परिवर्तित होने लगा। उसमें मतभेद पैदा हो गये। ईसा की पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म में फूट पड़ी जिसके परिणामस्वरूप यह धर्म 'हीनयान' और 'महायान' इन दो टुकड़ों में बँट गया।

हर्ष के समय में भारत में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में एक बहुत बड़ी धार्मिक उथल-पुथल हुई। इस्लाम का आविर्भाव एक ऐसी ताकत के रूप में हुआ जिसने बहुत से देशों के भाग्य बदल दिये। यही इस्लाम जब भारत में दाखिल हुआ तो उसने निजामुद्दीन औलिया और अमीर खुसरो के नेतृत्व में सूफीवाद और अन्य विचारधाराओं को जन्म दिया। इसके ठीक तीन सौ वर्ष बाद यानि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसॉफिकल सोसायटी आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अपने युग के विरुद्ध लड़ने के लिए पनपे इन धार्मिक आन्दोलनों का अध्ययन रुचिकर ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से जरूरी भी है। यह धार्मिक आन्दोलन सामाजिक रूप से लाभदायक तथा आर्थिक रूप से अनोखा है। इन आन्दोलनों में कुछ तो बहुत ही सरल थे और कुछ जटिल, परन्तु सभी आन्दोलन समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। किसी भी आन्दोलन के कारण भारत की एकता को कभी धक्का नहीं पहुँचा बल्कि हर आन्दोलन इस विशाल भूखण्ड की सामयिक संस्कृति को योगदान देकर समृद्ध करता रहा। अगर व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो शाह अब्दुल लतीफ इस आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण अंग थे, जिन्होंने इस आन्दोलन से जितना प्राप्त किया, उतना ही उसे समृद्ध भी किया।

इस आन्दोलन के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव आश्चर्यजनक थे अर्थात् इस आन्दोलन से समाज के हर व्यक्ति के मन पर गहरा असर हुआ। भारत की जनता, जोकि हर विदेशी आक्रमणकारी को समान रूप से अपना शत्रु मानती थी, उसी जनता के लिए एकता और भाईचारे का सन्देश लेकर आया था यह धार्मिक आन्दोलन।

किस तरह एक के बाद एक आक्रमणकारी भारत की सामयिक संस्कृति में शामिल होता गया, यह जानना बहुत मनोरंजक होगा। एक विशाल ऐतिहासिक दौर, जिसकी तुलना एक ऐसी भीड़-भरी रेलगाड़ी से की जा सकती है जिसमें हर स्टेशन से नये मुसाफिर अन्दर आना चाहते हों और रेलगाड़ी में बैठे हुए मुसाफिर अपनी पूरी ताकत से उन्हें रोकने का प्रयास करते हों। कई बार मैंने इस रेलगाड़ी

को भारतीय संस्कृति की रेलगाड़ी कहा है जो तमाम अवरोधों के बावजूद हमेशा आगे ही बढ़ती रही है। जैसा कि हमेशा होता आया है, पिछले स्टेशन के आक्रमण-कारी अगला स्टेशन आने पर प्रतिरोधक बन जाते हैं। आक्रमणकारी मुसाफिर किसी भी उपाय से गाड़ी के भीतर आना चाहते हैं, जिनमें हिंसक तरीका भी शामिल है और इसी तरीके को अधिकतर अपनाया गया। रेलगाड़ी के पुराने मुसाफिर पिछले सभी स्टेशनों के आक्रमणकारियों से मिलकर नये आक्रमण-कारियों का मुकाबला करने में अपनी सारी ताकत लगा देते हैं। फिर भी हर स्टेशन पर थोड़े-बहुत मुसाफिर भारत की सांस्कृतिक रेलगाड़ी में प्रवेश पा ही जाते है। इस तरह यह रेलगाड़ी चलती रहती है।

आर्यों के समय से चली आ रही इस रेलगाड़ी में आक्रमणकारियों की सूची काफी लम्बी है, जिनमे फारसी, ग्रीक, बैक्टीरियन पार्थियन, हूण, येऊची, शक, अरब, अफगान और तुर्क जातियाँ शामिल हैं। ये सभी जातियाँ भारतीय सामाजिक ढांचे में हिस्सेदार रही। संश्लेषण की इस प्रक्रिया में अपने को समा लेने की प्रवृत्ति पजाब की प्रेमगाथाओ में विशेष रूप से मिलती है। उदाहरण के लिए सोहनी महिवाल, सस्सी-पुन्नू, सेहती-मुराद, मिर्जा-साहिबा और हीर-रांझा प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। अठारहवी सदी में वारिसशाह ने हीर की रचना की, जिसमें उन्होने हिन्दू और मुसलमानो के, समान रूप से पाये जाने वाले त्यौहारो और रिवाजों का जिक्र किया है। रांझा मुसलमान होते हुए भी हिन्दू जोगियों की तरह भगवे कपड़े और कानो में कुडलियाँ पहनता है। वह अपने शरीर पर भभूत लगाता है, भगवान कृष्ण की प्रिय बांसुरी भी बजाता है और शिव-पार्वती के विवाह का उल्लेख भी करता है। वह वैरागी, उदासी, रामानन्दी और अन्य इसी प्रकार के सम्प्रदायों के लोगो से चर्चा करता है। झेलम के किनारे सिद्धों के मेले मे शरीक होता है, हिन्दुओं के इकतीस शास्त्रीय रागों में वह पूर्ण रूप से पारंगत है। हीर को सांप काट लेता है तब आयुर्वेदिक ओषधियों से उसका इलाज होता है। वह अपनी मांग में सिन्दूर भरती है। उसका दहेज हिन्दुओं की तरह बाकायदा उसकी ससुराल मे सजाया जाता है। रांझा को भांग प्रिय है और भांग का उल्लेख सिर्फ हिन्दू पौराणिक कथाओ मे ही मिलता है। रांझा मुसलमान सूफियों की तरह बातें करता है। अत: वारिसशाह के मतानुसार हिन्दू जोगी और मुसलमान सूफी मे कोई अन्तर नही है, क्योंकि दोनों इस बात पर विश्वास करते हैं कि ईश्वर मनुष्य के भीतर मौजूद रहता है और पूजा या इबादत की सीढ़ियों द्वारा ही मनुष्य की मुक्ति सम्भव है। मुसलमान योगियों की यह प्रथा कश्मीर में अब भी मिलती है। इन घाटियों में शिव भक्त मुसलमान देखे जा सकते हैं। यहाँ के सिंधियों मे अब भी हिन्दू रिवाज मनाये जाते हैं, स्त्रियाँ मांग में सिन्दूर भरती हैं तथा हिन्दू पीरो के मुसलमान नाम और मुसलमान पीरों के हिन्दू नाम

आज भी मिलते हैं।

शाह अब्दुल लतीफ का सूफीवाद हिन्दू-मुसलमानों के बीच एक बड़ा सेतु था। शाह लतीफ धार्मिक कर्मकाण्डों, पुजारियों के खोखलेपन और धर्मान्धों के मिथ्याचार के सख्त खिलाफ थे। वे गंगा को पवित्र मानते थे, जिसमें एक ही बार नहा लेने से आत्मा शुद्ध हो जाता है। 'सुर रामकली' की एक बेंत से शाह ने नाथ योगियों के सम्बन्ध में कहा—

'उनके सत्संग का लाभ उठाओ,
इनकी सेवा करो और
अपनी ज्ञानवृद्धि करो।
शीघ्र ही वे
लम्बे प्रवास को निकल जायेंगे,
अपने पीछे
पवित्र गगा के लिये खूबसूरत दुनिया को छोड़कर।'

शाह साधना की बात करते हैं और सत्नाम पुकारते हैं—

'जगत् के मोह से बचो
तुम्हारे दुःख मिट जायेंगे
दिल में मीम और
जबान पर अलीफ रखो।'

दो सौ वर्ष बाद स्वामी रामतीर्थ ने भी यही शब्द कहे।

शाह अब्दुल लतीफ का जन्म सन् १६८६ में सिंध हैदराबाद के हाला तालुका के भारपुर नामक गाँव मे हुआ था। उस समय औरंगजेब का राज्य था। सिंध की घाटियाँ उपजाऊ जमीन और प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। हड़प्पा और मोहन-जोदडो के काल से ही इन घाटियों में सोना पैदा होता रहा है। सब से पहले अरबों ने सिंध को जीता परन्तु यहाँ की उच्च संस्कृति के सामने उन्हें झुकना ही पड़ा। फिर भी सिंध की जनता के लिए इस काल में मुसीबतों का दौर शुरु हो गया था। शाह अब्दुल लतीफ सिंध के इस बुरे समय मे पैदा हुए। कोई दस वर्ष बाद एक अंग्रेज यात्री ने जब सिन्धु नदी को पार किया तो इस बेड़े को देखकर सिंध का अमीर चिल्ला उठा—'काश ये सिंधी होता!' इसके १४४ वर्ष बाद सर चार्ल्स नेपियर ने सिंध को लार्ड डलहौजी के प्रदेश मे मिला दिया। उसके बाद उसे अपराधबोध महसूस हुआ और उसने अपनी आत्मकथा मे *'मैंने अपराध किया' शीर्षक अध्याय में इस बात का उल्लेख भी किया है।*

शाह अब्दुल लतीफ के जन्म के कुछ ही समय बाद उनके पिता शाह हबीब उसी तालुका के कोठड़ी नामक गाँव मे बस गये। इस जगह से चार मील की दूरी पर भीत अर्थात् टीला है जहाँ इस महाकवि ने भिक्षुओं और फकीरों के बीच

अपनी जिन्दगी के अन्तिम वर्ष बिताये। इस महाकवि के जन्मस्थान पर आज कोई भी स्मारक नहीं है जबकि भींत का टीला अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। बाबा फरीद के पाटण की तरह यह भी एक तीर्थस्थान है। शाह अब्दुल लतीफ के दादा शाह अब्दुल करीम (सन् १५३६-१६२२) एक श्रेष्ठ कवि थे जिनके पूर्वज हैरात से १६३८ में अमीर तिमूर के साथ यहाँ आकर बसे थे।

शाह हबीब के परिवार में जन्मे इस बच्चे के बारे में एक दरवेश ने भविष्य-वाणी की थी कि यह बच्चा सिंध की जनता का दुःख दूर करेगा, प्रेरणादायक काव्य लिखेगा और सिंध के इस मरुस्थल में ध्रुवतारे के समान चमकेगा। एक दन्तकथा के अनुसार, पाँच वर्ष की उम्र में इस बच्चे को नूर मुहम्मद भट्टी के पास पढ़ने के लिए भेजा गया तब उसने अलीफ से आगे कुछ भी पढ़ने से मना कर दिया। अल्लाह का पहला अक्षर भी अलीफ है। गुरु ने बच्चे की आँखों में रोशनी देखी और वे आश्चर्य से कह उठे—'यह बच्चा अपने आप ही ज्ञान प्राप्त कर लेगा।' तब से वह बच्चा किसी भी पाठशाला में नहीं गया।

अपनी किशोरावस्था में वह मरुस्थल के योगियो के बीच घूमता रहा। तभी उसे सिंध के महान सन्त शाह इनायत के दर्शन हुए। उन्होंने इस युवक लतीफ को दो फूल दिये जो इस नौजवान की चमकती आँखों की नयी दृष्टि के प्रतीक थे। एक और किंवदन्ती के अनुसार लड़की के पिता मिर्जा मुगल बेग द्वारा विघ्न के कारण उन्हें प्रेम में निष्फलता मिली थी। इसीलिए वे सिंध के रेगिस्तान में भटकते रहे। घूमते-घूमते वे मुल्तान पहुँचे जहाँ से वे बलूचिस्तान में मकरान की ओर बढ़े। उन्होंने जैसलमेर, कच्छ और गुजरात में काठियावाड़ की यात्राएँ कीं। वे हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ गिरनार भी गये। वहाँ उन्होने भगवान कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख नृत्य किया। उन्होंने लासोल के हिंगलाज मे देवी दुर्गा के दर्शन किये। गोरखनाथ के शिष्यों के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उनके साथ शाह ने विस्तृत चर्चाएँ कीं। हिन्दू संगीतकारों से वे बहुत प्रभावित हुए और उनके साथ उन्होने काफी समय बिताया। अपने समय के उच्चकोटि के दो संगीतकार अटल और चंचल की उन्होंने बहुत सराहना की। उन संगीतकारों द्वारा प्रस्तुत 'सुर कल्याण' और 'सुर रामकली' संगीत के रस मे भीगे दैवी उद्‌गार हैं। इन दोनो रचनाओं मे शाह के सूफीवाद और संगीत-विषयक विचारों का समावेश है। हकीकत में, संगीत सुनते-सुनते ही शाह ने देहत्याग किया। उनकी कुछ अन्य रचनाएँ मसलन् 'सुर समुद्री' और 'सुर श्रीराग' उनकी समुद्र-यात्राओं से सम्बन्धित हैं।

'शाह-जो-रीसालो' की भूमिका में श्री फतेहचन्द वासवानी ने युवावस्था में शाह के असफल प्रेम के बारे मे लिखा है। अपने प्रिय को पाने में तुच्छता का अनुभव करने पर दुनिया से बेखबर वह बालू के एक टीले पर दिन-रात बैठा

रहता। चरवाहे द्वारा खबर पाने पर उसके पिता उसे घर ले आये। परन्तु घर पहुँचकर भी वे ज्यादा दिन नही टिके और वे अपना घर छोड़कर चले गये। कोई तीन साल तक वे हिन्दू साधुओं की संगत मे घूमते रहे। यही उनका सच्चा व्यावहारिक अध्ययन सम्पन्न हुआ। उनकी यह भ्रमणशक्ति शेख सादी और गुरु नानक के साथ तुलनीय है।

एक दिन अचानक वे अपने पिता के घर फिर लौट आये और वहाँ पर आनन्द और उल्लास का वातावरण छा गया।

सन् १७१३ में सईदा बेगम के साथ उनका विवाह हुआ। जिस सामाजिक क्रान्ति की बात वे सोचते थे उसे क्रियान्वित करने के लिए उन्हें एक साथी की जरूरत थी जो इस विवाह द्वारा पूरी हुई। सिंध मे रूमी के नाम से प्रख्यात शाह अब्दुल लतीफ का सूफीवाद जहां एक ओर हिन्दुओं के वेदान्तवाद से प्रभावित है, ठीक वही दूसरी ओर बहुत कुछ कुरान के सिद्धान्तो पर आधारित भी है। भक्ति आन्दोलन के एक महत्त्वपूर्ण अंग की तरह शाह अब्दुल लतीफ उस बुरे वक्त मे भारत की सामयिक संस्कृति की ज्योति जलाये रखने में सबसे आगे रहे।

उन्होंने मुल्लाओं और मुफ्तियों के दंभ और मिथ्याचार का पर्दाफाश किया। उसी प्रकार मुगल गवर्नर द्वारा हिन्दू तीर्थयात्रियो पर लगाये गये कर का भी विरोध किया। वे कहते—'तसबीह या माला फेरने से कोई लाभ नही, अच्छे कार्य करने की जरूरत है।' वे शिया थे पर सुन्नी मुसलमान भी उनका बहुत आदर करते थे। वे मुसलमान थे पर हिन्दू भी उन्हे बहुत चाहते थे और सिख लोग भी उनका सम्मान करते थे। वे गुरु नानक के सच्चे अनुयायी थे। वे एक ऐसे भारतीय थे जो न सिर्फ हिन्दुस्तान मे, बल्कि सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया में आदर के साथ याद किये जाते हैं।

जोगियो की तरह काले धागों से सिला हुआ लम्बा कुर्ता पहनने वाला यह व्यक्ति उच्च कोटि का कवि है। कहा जाता है कि गांधीजी जब दक्षिण अफ्रीका से लौट रहे थे तो सिंध होते हुए आये और उन्होने शाह अब्दुल लतीफ के 'बोल' से चर्खे की प्रेरणा ली।

उन्होंने सिंधी कविता को अरबी और फारसी की तानाशाही से मुक्त किया और गजल के बदले दोहो को अपनाया। विचारों में प्रखरता, प्रकृति का बिम्ब-विधान तथा अलंकार-योजना के लिए शाह अब्दुल लतीफ अपने पूर्ववर्ती गुरु नानक और परवर्ती स्वामी रामतीर्थ के समान थे। उन्होने अपनी कविता में चरवाहों और ऊंट-सवारो द्वारा कही जाने वाली कहावतों और घरेलू मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग किया है। वे अपनी वेदना को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

'कांटो की तरह—
दु खों ने

मेरे दिल को फांस लिया है।
जैसे पानी मे नमक
वैसे ही प्रेम और मेरा दिल।
नीम की डाली की तरह
उन्होने मेरे हृदय को उखाड़ फेंका।'

शाह अब्दुल लतीफ बुनियादी रूप से सूफी धारा के प्रेम कवि थे—ऐसा प्रेम जिसकी न तो भौगोलिक सीमाएँ हैं, न ऐतिहासिक सीमाएँ हैं और न ही मानसिक सीमाएँ हैं। भगवान कृष्ण के दर्शन को वे द्वारका गये और तीर्थस्थान हिंगलाज की यात्रा भी उन्होने की। सामयिक भारतीय संस्कृति में विश्वास रखने वाले शाह पूरे राष्ट्र में एक ही भौगोलिक और सांस्कृतिक सत्ता मानते थे। वे ऐसे मुसलमान जोगी थे जो सभी धर्मो की महानता मे विश्वास रखते थे। वे हिन्दूवाद और इस्लाम को एक ही सत्य को प्रकट करने वाले दो धर्म मानते थे। अपने इस सत्य के लिए वे दृढ़ होकर खड़े रहे। उन्होने इस बात की बिल्कुल चिन्ता नही की कि उस सत्य को किसने कहा है और उसकी आवाज किस रूप मे आयी है।

डा० एच० एम० गुरुबक्षानी के अनुसार—"शाह बहुत लम्बे नहीं थे परन्तु उनका कद सामान्य से अधिक ऊँचा था। उनका वर्ण गेहुँआ होते हुए भी गोरेपन से थोड़ा करीब था। उनका मुख तेजस्वी था और विशेष रूप से वृद्धावस्था में उनके मुख पर असाधारण दीप्ति झलकती थी।"

बौद्ध भिक्षुओ तथा मध्यकालीन सूफियों की तरह भिक्षा के लिए वे हाथ में एक किश्ती जैसा कमंडलु रखते थे। बैठते समय पंखा उनका हमेशा का साथी था। वे कम समय के लिए सोते थे और बहुत कम खाते थे। ऐसा ही सन्त प्रेम और करुणा का काव्य लिख सकता था। ऐसे ही मानस के आधार पर वे 'सासी और पुन्नो' तथा 'नूरी और तेमाची' की कल्पना कर सके।

१८वी शताब्दि मे अरबी और फारसी आदर्श भाषाएँ मानी जाती थी। मुगल साम्राज्य के पतन के बावजूद अरबी और फारसी का प्रभुत्व कायम रहा। देशी (प्रादेशिक) भाषाओ में लिखकर उन्हे सम्पन्न बनाने का काम खतरे से खाली नही था। उस समय शाह अब्दुल लतीफ ने वही कार्य किया जो मीर तकी मीर ने उर्दू में किया। उनके दोहे, वोल, बैंत अभी भी भक्तिपूर्वक गाये जाते हैं। पवित्र कुरान और ग्रन्थसाहिब को गहराई से समझकर शाह अब्दुल लतीफ ने धर्मनिरपेक्ष संस्कृति की ज्योति को सर्वाधिक प्रज्वलित किया। ऐसा ही कार्य बारहवीं शताब्दी मे बाबा फरीद और तेरहवीं शताब्दी मे निजामुद्दीन औलिया ने किया था। सिंध का यह गीत रेगिस्तान का दिव्य गीत है जो प्रेम पर आधारित अमर कृति 'शाह-जो-रीसालो' से लिया गया है—

"मैं 'बाबीओं' की तरह मरूँगा,

लू के थपेड़ों से।
अगर मैं कभी
अपने प्रिय को भूल जाऊँगा।"

शाह के काव्य पर 'गीता' का प्रभाव सुस्पष्ट है। वे अपने अनुयायियों से कहते हैं कि किसी बदले की आशा किये बिना ही अपना कार्य किये जाओ। वे कहते हैं कि भगवान हमेशा उन्ही के पक्ष मे होता है जो मेहनत करते हैं। निष्क्रिय और आलसी लोगो की भगवान भी मदद नही करता। उस मस्त और दयालु इन्सान ने जितनी कोमलता से गीत लिखे, उससे भी अधिक कोमलता से उन्हे गाया है। उनके अनुसार भगवान के सिवा किसी के भी ऊपर निर्भर होना पाप है। यहाँ भी वे ईश्वर पर निष्क्रिय रूप से निर्भर रहने के विरोधी हैं। वे चाहते हैं कि सक्रिय रहते हुए ईश्वरीय शक्ति पर भरोसा रखा जाये। पानी मे तैरने के लिए आदमी को तैरना आना चाहिए, तभी भगवान उसकी मदद करेगा। शाह के जीवन-दर्शन में सक्रियता और गतिशीलता—ये दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। वर्ड्सवर्थ के घायल हृदय को जैसे क्षुद्र फूलों ने मानवता का पाठ पढ़ाया था वैसे ही शाह को पानी मे तैरते हुए तुच्छ तिनके ने ईमानदारी का पाठ सिखाया है—

"घास के इन तिनको की वफा देखिये,
या तो वे डूबते हुए को बचा लेते हैं
या फिर प्रवाह में उसके साथ ही डूब जाते हैं।"

शाह अब्दुल लतीफ १८वी शताब्दी मे भारत के बड़े विद्वानों मे से थे। उन्होने पंजाब के बुल्लेशाह और वारिसशाह की तरह भारत की उस सामयिक सस्कृति को समृद्ध किया, जो उन्होने मध्ययुगीन भक्तो और सूफियो से प्राप्त की थी। अपने पूर्ववर्ती आसीसी के सन्त फ्रांसिस तथा बाद में महात्मा गांधी के समान उन्होंने प्रेम और अहिंसा का सन्देश फैलाया। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ ताकतवर न्यायी हो और दुर्बल सलामत; ऐसा समाज जो अहिंसा में विश्वास रखता हो और जहाँ सामाजिक और आर्थिक रूप से किसी का भी शोषण न हो। स्वयं अनपढ़ होते हुए भी उन्होंने सबके लिए शिक्षण आवश्यक माना। अपने युग के अन्याय और असमानताओ के खिलाफ उन्होने आवाज उठायी। यहाँ तक कि पक्षियो का चित्रण करते समय भी उनकी सहानुभूति गिरे हुए, दुर्बल, घायल पक्षियों की ओर थी। वे शिकारी को चेतावनी देते हैं कि वह इन बेचारे पक्षियों को न मारे क्योंकि 'काल' सबसे बड़ा शिकारी है, जो हरेक को मार देगा। "पक्षी को मत मारो क्योंकि उसे मारने से तुम्हें सिर्फ उसका शरीर मिलेगा, पक्षी नही।"

सन् १७५२ मे शाह अब्दुल लतीफ की मृत्यु हुई और हैदराबाद मे भीत में उनको दफनाया गया। परन्तु वे अमर हैं। सबके हृदय को जीतने वाले को मृत्यु

जीत नहीं सकती क्योंकि वह अपनी कीर्ति द्वारा अमर रहता है।

स्विनबर्न के अनुसार उच्च कोटि के काव्य में संगीत का होना अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण के आधार पर जाँचने से शाह महान कवि ठहरते हैं। १९६२ में पाकिस्तान के सूचना निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'शाह अब्दुल लतीफ—संगीत की नई धारा के संस्थापक' नाम के अपने उत्कृष्ट पर्चे में एन० ए० बलोच लिखते हैं—"शाह अब्दुल लतीफ ने एक नये संगीतमय वाद्य और उसके प्रदर्शन की नयी प्रणाली का आविष्कार किया। उन्होंने लोककला और शास्त्रीय कला के संयोग पर आधारित संगीत की नयी धारा को जन्म दिया। जिस नये वाद्य का उन्होंने आविष्कार किया, वह एक अतिरिक्त तार वाला तंबूरा था। पहले तंबूरे मे चार तार होते थे। उन्होने इस वाद्य के 'जुबान' के पास ही एक और तार जोड़ दिया। एक उत्कृष्ट साहित्यिक कृति के साथ-साथ सम्पूर्ण 'शाह-जो-रीसालो' संगीत की श्रेष्ठ रचना भी है।"

डॉ० मोतीलाल जोतवानी के अनुसार शाह अब्दुल लतीफ भारत के भक्ति आन्दोलन में बहुत देर से आये परन्तु अपने विचारों की प्रखरता और गहरी अनुभूतियो के द्वारा उन्होंने इस कमी को पूरा किया। डॉ० के० एम० सेन अपनी पुस्तक 'हिन्दूवाद' में कहते हैं—"जिस तरह अन्य प्रदेशों के मध्ययुगीन रहस्यवाद मे भक्ति आन्दोलन सूफी सिद्धान्तों से प्रभावित था, उसी तरह यहाँ सिन्ध में सूफी धारा भक्ति आन्दोलन से असम्पृक्त न रह सकी। १७वी शताब्दी में शाह करीम, शाह इनायत और शाह लतीफ ने इस आन्दोलन को गति दी और आज तक यह धारा कायम रही है।"

शाह अब्दुल लतीफ ने लोगों को नयी आशा और जीवन के लिए नया दृष्टिकोण दिया। उन्होने लोगों में स्वाभिमान जाग्रत किया और ईश्वर तथा मनुष्य के लिए प्रेम की प्रेरणा दी। उन्होंने लोगों को मुल्ला और पण्डा दोनों की गुलामी से मुक्त किया और उत्तर भारत की विभिन्न जातियों के बीच सेतु का कार्य किया। उनके 'बोल' और 'बैंत' धर्मनिरपेक्षता तथा भारत की सामयिक सस्कृति को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करते हैं। एक बार थाटा स्थित एक हिन्दू मन्दिर में दाखिल होते समय उन्होंने कहा था—"लाइलिल्लाह और सतगुरु के सत्सग में हम मन्दिर में प्रवेश करते हैं।"

शाह लतीफ का कालक्रम

सन् १६८९—हैदराबाद (सिन्ध, अब पाकिस्तान) मे हाला तालुका हाला हवेली गाँव में जन्म।

सन् १६९४—वाई गाँव के आखूंद नूर मुहम्मद भट्टी के पास शिक्षा-प्राप्ति के लिए भेजे गये। बच्चे ने अरबी भाषा की बारहखड़ी के

पहले अक्षर 'अलीफ' के आगे कुछ भी पढ़ने से इनकार कर दिया।

सन् १७०८—प्रेम मे निष्फलता के बाद दरवेश बन गये।

सन् १७०९-१७१२—रेगिस्तान में भटकते रहे और लखपत, गिरनार, द्वारका, जैसलमेर, बीकानेर, धार, गांजा, हारो, लहुट, लामाकन, काबुल, हिंगलाज, करांची, भामभोर, मुधाभीम, पोरबन्दर और थाटा की मुलाकातें ली।

सन् १७१४—मिर्जा मुगल बेग की पुत्री सईदा बेगम से विवाह।

सन् १७२०—शाह ईनायत खान की मृत्यु।

सन् १७२१—शाह मुल्तान गये। मुल्तान के सम्राट् मियां नूर मोहम्मद ने शाह को मारने के लिए कई उपाय किये। निष्फल होने पर शाह की महानता का अनुभव कर उसने शाह के कदमो मे गिरकर माफी मांगी।

सन् १७४२—शाह के पिताजी शाह हबीब की मृत्यु।

सन् १७५२—भीत में शाह की मृत्यु। १७५४ मे शाह की कब्र पर मियां गुलाम शाह कुलहोरो ने स्मारक बनाया। उस समय के महानतम कलाकार इदान ने इस स्मारक की रचना की थी।

शेरे पंजाब महाराजा रणजीतसिंह
(१७८०-१८३९)

१९वीं शताब्दी के पहले तीस वर्षों को कई अर्थों में पंजाब का 'स्वर्ण युग' माना जाता है। इसका सर्वाधिक श्रेय रणबांकुरे एवं प्रतिभासम्पन्न शासक महाराजा रणजीतसिंह को जाता है। स्वर्गीया प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने उन्हें हमारी मातृभूमि के विशिष्ट व्यक्तियों में से एक कहकर पुकारा था। एक कुशल योद्धा और राजनीति प्रवीण शासक के रूप में उनकी ख्याति घर-घर में फैली है।

रणजीतसिंह का जन्म २ नवम्बर, १७८० को गुजरांवाला में हुआ जो अब पाकिस्तान में है। कहा जाता है कि ७ वर्ष की अवस्था में उन्होंने पहली लड़ाई लड़ी। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक किले को अपने अधिकार में कर लिया था। ७ जुलाई, १७९९ को उन्होंने लाहौर के ऐतिहासिक किले में प्रवेश किया और बीसियों छोटी-छोटी रियासतों को संगठित करके एक शक्तिशाली पंजाब प्रदेश बनाने की नींव रखी। पंजाब ही इस भारतीय उपमहाद्वीप में एकमात्र ऐसा प्रदेश था जो ब्रिटिश सरकार के कब्जे में न आ पाया था।

डा० एस० राधाकृष्णन के शब्दों में, "महाराजा रणजीतसिंह ने अपनी बहादुरी और निष्पक्ष व्यवहार के कारण छोटे-छोटे राज्यों को एक संगठित प्रदेश का रूप दिया और कठिन परिस्थितियों में भी उसकी एकता और स्वतन्त्रता को कायम रखा।"

वर्तमान स्थिति को देखते हुए जबकि राष्ट्रीय एकता पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है, हमें उस महान शासक की नीतियों तथा सिद्धान्तों को अपनाना है जिसने विभिन्न धर्मों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं के बावजूद अपनी प्रजा को एकजुट होकर रहने की प्रेरणा दी। वर्तमान पीढ़ी को उनके उदाहरण से प्रेरणा लेनी चाहिए।

महाराजा रणजीतसिंह के बारे में एक विशेष तथ्य है लोकतान्त्रिक मान्यताओं

के प्रति उनकी नम्रता और सम्मान, जैसा कि उस सामन्तवादी काल में उनके बारे मे प्रचलित था। उनका राज्य उनके नाम से या उनके परिवार के नाम से अथवा उनकी 'मिसल' (प्रदेश) के नाम से नही चलता था बल्कि वह 'सरकार-ए खालसा' के नाम पर चलता था। वह कभी भी सिंहासन पर नही बैठते थे बल्कि एक कुर्सी पर आराम से बैठते थे। वह प्राय: एक दरी पर बैठते थे जहाँ उनके सभी दरबारी खडे होते थे।

उन्हें 'सरकार' नाम से सम्बोधित किया जाता था, यद्यपि अन्य राजाओं ने उन्हें 'महाराजा' की उपाधि दे रखी थी जिसे उन्होने बड़ी अनिच्छा से स्वीकार किया था। जनसाधारण के प्रति उनका दृष्टिकोण और दूसरे धर्मों के प्रति उनकी आदर-भावना एक अनुकरणीय उदाहरण है जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

रणजीतसिंह सुकरचकिया मिसल के नेता महासिंह के इकलौते पुत्र थे। उनकी माता राजकौर जींद के सरदार गजपतसिंह की पुत्री थी। १७८५ में रणजीतसिंह की सगाई हुई और १७९६ मे कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह के पुत्र गुरबक्शसिंह की पुत्री महताब कौर से उनका विवाह हुआ।

जब रणजीतसिंह केवल १३ वर्ष के थे, तो उनके पिता का देहान्त हो गया। उनके बाद उनकी माता ही उनकी सरक्षक बनी।

कहा जाता है कि रणजीतसिंह ने ७ वर्ष की उम्र मे पहली लड़ाई जीती।[1] १२ वर्ष की उम्र में उन्होने गुजरात के निकट सोधरा किले पर कब्जा कर लिया। १३ वर्ष की अवस्था में शिकार खेलने के दौरान वे परिवार के पुश्तैनी दुश्मन हशमत खान का सिर काटकर अपने मित्रो के पास ले आये। रणजीतसिंह और उनके मित्र शिकार खेलने गये हुए थे। वहाँ हशमत खान ने अचानक ही रणजीत सिंह पर अपनी तलवार से हिंसक आक्रमण किया। पर इससे पहले कि वह उन्हें मार डालता, रणजीतसिंह ने हशमत का सिर धड से अलग कर दिया और अपनी बरछी पर लगे रक्तरंजित विजयोपहार के साथ अपने साथियों की ओर चल दिये।

रणजीतसिंह केवल १६ वर्ष के थे जब उन्होंने अपने विजयकाल मे प्रवेश किया। उनकी सास सदाकौर उनके लिए बहुत सहायक साबित हुई। सर्वप्रथम उन्होंने रामगढ़ियो को समाप्त किया, जिन्होने बटाला पर हुए आक्रमण मे सदाकौर के पति का वध कर दिया था। इसके बाद मात्र १९ वर्ष की अवस्था मे उन्होने लाहौर को अपने अधिकार मे ले लिया।

अब वह राजा बन गये थे। उनका पहला लक्ष्य सिख प्रदेशो को एक करना था। इस काम को पूरा करने में उन्हें समय नही लगा। अधिकतर एक के बाद एक,

---

१. ६ मई, १८३१ को कैप्टन सी० एम० वाड़े जोकि 'तवारीख' की एक लिखित प्रति चाहते थे; के कहने पर महाराजा ने दरबारी इतिहासकार सोहनलाल सूरी को बुलाया। उन्हीं की पुस्तक 'उमदत-उत-तवारीख' की प्रविष्टि से।

सभी मिसलें उनके आगे झुकती चली गईं।

इसके बाद रणजीतसिंह ने अपना ध्यान मुस्लिम प्रदेशों की ओर दिया जिनमें से मुख्य थे मुल्तान, कसूर, झंग और मानकेड़ा। मुल्तान के अफगानों को छोड़कर किसी ने भी अधिक विरोध नही किया। १८१८ मे मुल्तान पर विजय प्राप्त कर ली गई। अगले वर्ष तक रणजीतसिंह ने कश्मीर पर भी अधिकार कर लिया और १८२० तक उन्हें पूरे पंजाब का शासक माना जाने लगा था, जिसकी सीमा सतलुज से लेकर सिन्ध और कश्मीर तक तथा तिब्बत के पहाड़ी इलाको तक थी। अगले २-३ वर्षों मे उन्होने पेशावर और सिन्ध के पार का अधिकतर इलाका भी जीत लिया। रणजीतसिंह की यह अभिलाषा थी कि सतलुज पार के इलाको को अपने अधिकार में कर लिया जाए लेकिन भारत को ब्रिटिश सरकार के मजबूत शिकजे में फँसा देखकर उन्होने यह विचार त्याग दिया। २५ अप्रैल, १८०९ को उन्होंने ब्रिटिश सरकार से एक 'मैत्री सन्धि' की।

महाराजा रणजीतसिंह शेरे पंजाब (२ नवम्बर, १७८० से २७ जून, १८३९)
भारत के गवर्नर जनरल लार्ड ऑकलैण्ड की बहन कुमारी एमिली एडेन
द्वारा बनाए गए चित्र पर आधारित सादिक द्वारा
बनाया गया एक रेखाचित्र।

रूस के जार ने दो बार रणजीतसिंह के सामने औपचारिक सन्धि करने का प्रस्ताव रखा। ऐसा ही फ्रांस के सम्राट् ने भी किया। इग्लैण्ड के सम्राट् ने महाराजा को उपहारस्वरूप स्काटिश घोड़े भेजे जबकि बर्मा और नेपाल के नरेश महाराजा की कृपादृष्टि के हमेशा ही इच्छुक थे। हैदराबाद के निजाम तथा रामपुर के नवाब में तो लाहौर के महाराजा की कृपादृष्टि पाने में होड़ लगी रहती थी।

ब्रिटिश इतिहासकारो ने तो रणजीतसिंह को बिल्कुल निरक्षर तथा अनपढ़ बताया है लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं कि महाराज को पजाबी, उर्दू और फारसी का ज्ञान था। उन्हें उर्दू और मुल्तानी से प्रेम था और उन्होने कश्मीरी और सिन्धी भाषा के बहुत से सुन्दर शब्दो को सीखा। पंजाब के स्कूलों मे उन्होने कृषि, वाणिज्य, बहीखाता (बुक-कीपिंग) के विषयों को अनिवार्य कर दिया था और महाकाव्यो तथा सभी धर्मों के ग्रन्थों के अनुवाद के लिए एक बड़ी राशि देनी स्वीकार की थी। उन्होंने अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया तथा कई मकतबो तथा मदरसो की स्थापना की। गवर्नमेण्ट कॉलिज लाहौर के प्रिंसिपल तथा बाद मे पजाब के शिक्षा निदेशक जी० डब्ल्यू० लेटनर द्वारा सन् १८८३ ई० मे सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार, २६ वर्ष की ब्रिटिश उपेक्षा के बाद भी, ८०,००० विद्यार्थी पंजाब के स्कूलों और उच्च सस्थाओं में पढते थे। लड़कियो मे भी शिक्षा का व्यापक प्रसार था एवं ऐसी विदुषी पंजाबी महिलाएँ भी थी जो पब्लिक स्कूल चलाती थी। बच्चों के स्कूलो मे अक्षर ज्ञान और पहाड़ो के साथ-साथ ही कविताओ के माध्यम से नैतिकता शिक्षा भी दी जाती थी। हिन्दूशास्त्र, ग्रन्थ साहिब और कुरान पढ़ाये-समझाये जाते थे। स्कूल तीनो प्रकार के थे—संस्कृत पाठशालाएँ, अरबी-फारसी के मकतब और गुरमुखी के विद्यालय। अदालतो मे फारसी भाषा का प्रयोग होता था लेकिन बहस पजाबी मे ही हुआ करती थी।

सैयद मोहम्मद लतीफ के शब्दो मे, जिन्होने अपनी पुस्तक 'पजाब का इतिहास' १८९१ मे कलकत्ता से प्रकाशित की, विद्या और विद्वान् के प्रति उनके मन मे असीम सम्मान था। उनके सचिव निरन्तर उनके पास उपस्थित रहते थे और उनके सामने फारसी, पंजाबी और हिन्दी के सभी कागजात पढ़ते थे और तब यह देखा जाता था कि क्या उनके आदेशों पर सही अमल हो रहा है और कार्य उनकी इच्छा के अनुसार ही हो रहे हैं। उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था, उनका व्यवहार तथा बातचीत की शैली बहुत ही रोचक थी। उनकी आकृति मोहक और भावपूर्ण थी।

१८३१ में जब गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने रणजीतसिंह के विदेश मन्त्री फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन से शिमला मे यह पूछा कि महाराजा की कौन-सी आँख नही है तो स्वामिभक्त फकीर को, जिसे अपने मालिक पर नाज था, बहुत दु:ख हुआ

और उसने जवाब दिया, "हुजूर, महाराजा का सूर्य के समान एक ही नेत्र है, अगर उनके दो नेत्र होते तो वे सारे संसार को जलाकर अंगारों में बदल देते। (हिन्दू पुराण विद्या के अनुसार सूर्य देवता की केवल एक आंख है)। जिस प्रकार सूर्य की ओर कोई भी आँखें गड़ाकर नही देख सकता, मैंने भी कभी अपने महाराज के चेहरे पर आँखें गड़ाकर नही देखा। मेरी दृष्टि तो हमेशा उनके चरण कमलों पर ही रहती है। यदि आप उनके चरणों के बारे में कुछ जानकारी हासिल करना चाहते हैं तो वह मैं आपको दे सकता हूँ।" लार्ड विलियम बैंटिक उसके इस उत्तर से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी जेब से सोने की घड़ी निकालकर विदेश मन्त्री को भेंट कर दी। गवर्नर जनरल ने कहा कि "जब तक तुम्हारे जैसे सेवक रणजीतसिंह की सेवा में मौजूद हैं, तब तक उनके राज्य का कोई बाल भी बाँका नही कर सकता।"

हर सुबह महाराजा नतमस्तक हो प्रार्थना करते, परमपिता परमात्मा की पवित्र वाणी और वचन सुनते, 'गुरवाणी' से उन्हें प्रेरणा मिलती और भक्तिमय संगीत से वे खुशी के उन्माद में झूम जाते। किसी भी अभियान का आरम्भ करने, यात्रा पर जाने या किसी भी सन्धि पर हस्ताक्षर करने से पहले वह 'ग्रन्थ साहिब' का ध्यान करते और 'अखण्ड पाठ' रखवाते। प्रत्येक समर विजय के पश्चात् वह परमपिता की शुक्रगुजारी के लिए अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर जाते और दीपमाला (प्रकाश) के लिए विशेष धन देते तथा अपनी नियमित प्रातःकालीन घुड़सवारी के समय वह प्रायः आदिग्रन्थ और 'दशम ग्रन्थ' के श्लोको का जाप करते।

उन्होने अपने 'रागियों' (संगीतज्ञों) का चयन खूब परख कर किया था तथा उनको प्रोत्साहित करने के लिए प्रतियोगिताएँ रखी जाती थीं। उनकी सेना की प्रत्येक रेजीमेण्ट को दो पावन पुस्तकें और 'खालसा' का एक पीला झण्डा दिया गया था। हर सैनिक जत्थे मे धर्मग्रन्थों के पाठ हेतु एक 'ग्रन्थी' रखा जाता था।

दसवें गुरु के प्रति उनके मन में विशेष श्रद्धा थी। 'दशम ग्रन्थ' उन्हें कण्ठस्थ था। एक बार उन्होने ढोल बजवाकर मुनादी करवाई कि वे ऐसे किसी भी जीवित वृद्ध को सम्मानित करेंगे जिन्होने गुरु के दर्शन किए हों। १२६ वर्ष का एक वृद्ध किसान लंगड़ाता हुआ दरबार मे आया और उसने बतलाया कि उसने अपनी बाल्यावस्था में महान गुरु के दर्शन किए थे। महाराजा ने उसके पैर चूम लिये तथा उसे कई पुरस्कार तथा उपहारस्वरूप भूमि देकर विदा किया।

अपनी सरकार को वे सदा खालसाजी या सरकार-ए-खालसा अर्थात् पवित्रता का राज्य कहकर सम्बोधित करते थे। उनके सिक्के 'नानकशाही' के नाम से जाने

आनन्द की अनुभूति होती थी कि वे गुरु गोबिन्दसिंह के नगाड़े (ड्रम) के समान हैं अर्थात् खालसा पन्थ की श्रेष्ठता का प्रचार करना ही उनका काम है।

प्रत्येक बैसाखी को वे आनन्दपुर साहिब जाते थे जहाँ गुरु गोबिन्दसिंह ने अपने अनुयायियों को प्रेरित करके सिख संगठन की नींव रखी थी। उन्होंने ननकाना साहिब को जमीन का एक बहुत बड़ा भाग दान में दिया तथा अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर की रमणीकता और दीप सज्जा पर लाखों रुपये खर्च किए। उन्होंने हैदराबाद के निजाम द्वारा भेंट किया गया सोने का छत्र स्वर्ण मन्दिर में चढ़ा दिया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उनका दरबार गुरुओं के भव्य दरबार के समक्ष कुछ भी नहीं है। जाट वंश का होने के कारण उन्होंने किसानों से कहा कि वे उन्हें 'बादशाह' न कहकर 'भाई' कहकर सम्बोधित किया करें।

रणजीतसिंह सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, ज्वालामुखी और नान्देड़ के मन्दिरों में खुले दिल से दान दिया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वे पुरी में जगन्नाथ जी के मन्दिर की यात्रा करें। उन्होंने कोणार्क के सूर्य मन्दिर के बारे में भी जानकारी हासिल की। उनकी अन्तिम इच्छा थी कि 'कोहेनूर हीरा' जगन्नाथ जी के मन्दिर के लिए दान दे दिया जाए लेकिन उनकी यह इच्छा उनके कुछ दरबारियों द्वारा निष्फल कर दी गई।

उन्होंने गो-हत्या करने वालों को बड़ी सजा दी। उन्होंने शाह शुजा से महमूद गजनवी द्वारा ले जाए गए सोमनाथ मन्दिर के द्वार लौटाने का आग्रह किया। उनकी हिन्दू, राजपूत और मुस्लिम पत्नियों को विचार प्रकट करने और अपने-अपने धर्म के अनुसार पूजा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

उन्होंने राज्य के सर्वोच्च पद प्रतिभाशाली हिन्दुओं को सौंपे हुए थे। मिश्र बेलीराम राज्य के राजस्व मन्त्री थे जबकि दीवान भवानीदास, दीवान गंगाराम और दीवान दीनानाथ लाहौर दरबार में क्रमशः प्रधान वेतनाधिकारी, महालेखापाल और महालेखा नियन्ता थे। दीवान सावनमल और दीवान मोतीराम इनके दो सर्वश्रेष्ठ प्रान्तीय राज्यपाल थे जो अपने प्रशासन और राजनीतिमत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। दीवान मोहकमचन्द, दीवान रामदयाल और मिश्र दीवानचन्द ने उनके साम्राज्य को दूर-दूर तक फैलाया। रणभूमि में आतंक फैला देने वाला मोहकमचन्द एक पराक्रमी सैनिक था जो केवल योग्यता के बल पर सेनाध्यक्ष के पद तक पहुँचा।

एक मुस्लिम सुलेखकार की कहानी तो कहने योग्य है जिसने पवित्र कुरान की अपनी हस्तलिखित प्रति को बेचने के लिए रामपुर, लखनऊ और हैदराबाद के मुस्लिम राजाओं के दरबार में अपना भाग्य आजमाया और वहाँ से निराश होकर अन्त में लाहौर आया। सुलेखकार ने उस हस्तलिखित कुरान के लिए दस हजार रुपयों की माँग की। कोई भी मुस्लिम राजा इतनी बड़ी रकम देने में असमर्थ

थी। रणजीतसिंह अपने रजत सिंहासन से उठे, उन्होंने पवित्र कुरान को चूमा और अपने राजस्व मन्त्री से सुलेखकार को सुलेख की कीमत देने के लिए कहा। विदेश मन्त्री, फकीर अजीजुद्दीन जो उस समय वहाँ उपस्थित थे आश्चर्यचकित रह गए और महाराजा से बोले कि वे एक ऐसी पुस्तक के लिए जिसका उनके धर्म से कोई सम्बन्ध नही है, इतनी अधिक कीमत क्यो दे रहे हैं ? यह सुनकर महाराजा की निगाह इस प्रकार चमकी मानो वे कह रहे हो, "मुझे ईश्वर ने सभी धर्मों को एक समान देखने का आदेश दिया है।" शायद यही कारण था कि उन्होने अन्य धर्मों से भी प्रेरणा ली।

अपनी मुस्लिम प्रजा के प्रति उनका सम्मान और सहिष्णुता वास्तव मे असाधारण थी। अपने सैनिक जीवन के प्रारम्भ में ही वे समझ गए थे कि स्वतन्त्र राज्य कायम करने का उनका सपना केवल तभी सच हो सकता है जब वे मुसलमानो को प्रसन्न रखेंगे क्योंकि जिन राज्यों पर उनका शासन था वहाँ मुसलमानों का ही बहुमत था। जामन शाह को पंजाब से निकालने और लाहौर के किले पर अधिकार करने में हिन्दू और सिखो से भी अधिक मुसलमानो ने उनको सहयोग दिया। उन्होंने पंजाब के उन मुसलमान किसानो को विश्वास मे रखा जिन्होने अपने सहधर्मियों का अपने प्रति किया गया दुर्व्यवहार देखकर रणजीतसिंह का साथ दिया।

उनकी भावनाओं की कद्र करते हुए रणजीतसिंह ने उन्हें सरकार और पंजाबी समाज में आदर का स्थान दिया। वे होली और दशहरे की भाँति मुसलमानों का ईद का त्यौहार भी उत्साहपूर्वक मनाते थे। उनके राजदरबार की भाषा 'फारसी' ही रही। उन्होंने फारसी और उर्दू बोलना भी सीखा। उन्होने मुसलमान स्त्रियों से विवाह करके धार्मिक कट्टरता को मिटाने का प्रयास किया।

उन्होंने मुस्लिम विद्वानो को खुले दिल से अनुदान दिए तथा अपने राज्य में फकीरों और दरवेशों के लिए सदा अपनी श्रद्धा भेंट की। उनके पास पंजाबी और फारसी मे अनूदित हिन्दू पुराण, रामायण और भगवद्गीता थे; इसी प्रकार उन्होंने मुस्लिम धर्म के पवित्र ग्रन्थों के अन्य भाषाओं मे अनुवाद कार्य को भी प्रोत्साहित किया। उन्होने मुस्लिम स्मारकों की मरम्मत करवाई तथा मुगल बागों में बहुत सा सुधार करवाया। लाहौर पर अधिकार कर लेने के बाद वे सबसे पहले औरंगजेब द्वारा बनवाई गई बादशाही मस्जिद में गए। उन्होंने पेशावर के मुस्लिम सन्तों के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की तथा उनके खानकाहों (मठ) की मरम्मत करवायी। जिस समय पेशावर की सड़कों से उनकी विजय की सवारी निकल रही थी, उन्होंने अपने सिख सरदारो को आदेश दिया कि इस दौरान किसी मस्जिद को हानि न पहुँचे, किसी औरत का अपमान न हो और किसी भी खेत को न रौंदा जाए। मुसलमानों के धार्मिक नेताओं ने ऐसे विजयी को अनेकों आशीर्वाद दिए

क्योंकि उन्होंने ऐसा पुरुष इससे पहले कभी नहीं देखा था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके मुस्लिम सेनापतियों ने उनकी विजयपताका को पंजाब की सीमाओं से भी कहीं आगे तक फहराया।

उनके समय में मोहम्मद बक्श जैसे कलाकार और शाह मोहम्मद जैसे कवि सम्मानित किए गए। प्रसिद्ध पंजाबी कवि फाजिल शाह ने रणजीतसिंह के आदेश से सोहिनी-महीवाल की रचना की और उसे मंच पर प्रदर्शित किया। शीरीं-फरहाद और लैला-मजनूँ का भी पंजाबी भाषा में अनुवाद किया गया। लाहौर के शाह हुसैन ने तो सोहिनी-महीवाल के लगभग ५० रूपान्तरों का हवाला दिया है। रणजीतसिंह ने उर्दू और फारसी के सुलेखन केन्द्र स्थापित किए और उन्होंने कुछ गाँवों का राजस्व तो केवल मियाँ-वडा स्कूल के नाम करवा दिया था। पंजाबी किस्से हीर-राँझा, ससी-पुन्नू, मिर्जासाहिबा और सेहती-मुराद सभी दुबारा से पंजाबी में लिखे गए। एक मुस्लिम पंजाबी कवि हाशिम शाह को एक जागीर पुरस्कार स्वरूप दी गई।

अपने शासनकाल के अन्त में उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाएँ सीखने के लिए प्रोत्साहित किया एवं लाहौर में अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खोलने के लिए ईसाई मिशनरियों को आमन्त्रित किया। किन्तु उन्होंने मिशनरियों को लोगों के धर्म बदलकर ईसाई बनाने एवं स्कूल के पाठ्यक्रम में बाइबल पढ़ाये जाने की अनुमति नहीं दी। १८३७ में, १८ वर्षीय युवक, राजा हीरासिंह ने अंग्रेजी में इतनी प्रवीणता हासिल कर ली थी कि एक बार तो महाराजा ने सोचा कि अंग्रेज युवती से शादी के लिए उसे ब्रिटेन ही क्यों न भेजा जाए। महाराजा ने कुछ सिख युवकों को अंग्रेजी सीखने के लिए लुधियाना भी भेजा। लाहौर वापस आने पर रामसिंह ने, जिसने छपाई के काम का प्रशिक्षण पाया था, एक प्रिंटिंग प्रेस लगाई। उन्होंने एक अंग्रेज सर्जन डाक्टर को लाहौर में एलोपैथिक अस्पताल खोलने की अनुमति भी दी।

रणजीतसिंह अपने राज्य के राजस्व का ४१% भाग प्रतिरक्षा पर खर्च करते थे। अपनी प्रजा पर उनका पूरा नियन्त्रण था। फिर भी उन्होंने राजतन्त्र नहीं अपनाया। अपितु वे खालसा के नाम पर शासन करते थे जिसका अर्थ है—जनता के लिए और जनता द्वारा चलाई जाने वाली सरकार। उन्होंने अपने पहले दरबार में (१८०२ में उनका राज्याभिषेक साहिबसिंह बेदी ने सम्पन्न किया) स्पष्ट कर दिया था कि उनकी सरकार *'सरकार-ए-खालसा', अर्थात् पवित्र लोगों की सरकार* कहलाएगी।

उनके द्वारा जारी किए गए सिक्कों से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है, जिनमें उनके चित्र के स्थान पर मात्र 'खालसा चिह्न' अंकित था, जिसका अर्थ है कि उनका राजा उनके लिए कोई अपरिचित नहीं बल्कि उनका अपना ही है।

अपने ४० वर्ष के शासनकाल में उन्होंने पंजाब को हर सदियों में विदेशी सेनाओं के आक्रमणों और गुजारेदारी के अभिशाप की दोहरी भयंकरता से बचाया। उनके द्वारा शुरू किए गए कई सुधार कार्य आजकल के शासकों के लिए चुनौती हैं। उनके समय में जमीन को जोतने वाला ही जमीन का असली मालिक होता था। आजकल के सभ्य देशों की भाँति उनके समय में भी प्राण-दण्ड न के बराबर था। उनके काल में साम्प्रदायिक दंगे नहीं होते थे। किसी को दूसरे दर्जे का नागरिक नहीं समझा जाता था। भाषा-विवाद या जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन जैसी कोई समस्याएँ नहीं थीं। जनता शान्ति एवं सद्भाव से रहती थी। खाने की कमी नहीं थी, स्त्रियों के साथ छेड़खानी नहीं होती थी। सड़कों पर लूटमार की घटनाएँ नहीं होती थीं और न ही किसी की नृशंस हत्या की जाती थी। पराजित शत्रुओं और जानवरों के प्रति उनके दया भाव और सहानुभूति से धर्म में उनकी अटूट आस्था का पता लगता है।

एक सेनापति द्वारा गाती हुई एक कोयल को मारने पर उन्होंने उसे सजा दी। बतख, तोते या छोटी-से-छोटी गौरेया (चिड़िया) को भी मारने की आज्ञा नहीं थी। सारे राज्य में गो-हत्या पर प्रतिबन्ध था।

रोजाना गुरु का लंगर लगता था। कई बार वे भक्तजनों के साथ धार्मिक स्थानों पर सम्पन्न किए गए सहभोज में सम्मिलित होते थे। वे सही माने में एक सिक्ख थे, अपने गुरुओं के बताए हुए उपदेशों का पालन करते हुए उन्होंने सादा जीवन व्यतीत किया। कभी भी तम्बाकू नहीं छुआ। शरीर पर कच्छा, लम्बे केश, कटार, कड़ा एवं कंघा धारण किये। मुस्लिम नर्तकी मोहरन के अलावा उनके सभी विवाह सिक्ख रीति-रिवाजों के अनुसार हुए।

मोहरन के किस्से से यह भी पता चलता है कि महाराज खालसा पंथ के प्रति कितने निष्ठावान थे। दरबारी लोग यह तो बरदाश्त कर सकते थे कि महाराजा खुले दरबार में एक नर्तकी से मजाक करें, पर महाराजा द्वारा उसी नर्तकी, मोहरम को घोड़े पर बैठाकर लाहौर की सड़कों पर घुमाना, उन्हें पसन्द न आया। उनको इस गलती के लिए उन्हें अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में बुलाया गया। वहाँ इस मामले पर विचार हुआ और उन्हें कोड़े मारने की सजा हुई। उनके हाथों को इमली के पेड़ से बांध दिया गया। वह पेड़ अब भी मन्दिर के अहाते में मौजूद है। यह आदेश दिया गया कि मन्दिर में आने वाला पहला व्यक्ति, महाराजा को सौ कोड़े मारेगा। लेकिन कोड़े मारने वाले के हाथ काँप गये। महाराजा की पदवी को देखते हुए सजा को माफ कर दिया गया। मोहरन को पठानकोट भेज दिया गया। दूसरी घटनाओं की भाँति इस घटना से भी यह पता चलता है कि महाराजा सर्वशक्तिमान होते हुए भी लोगों के कितने निकट थे।

मध्यकालीन परम्पराओं के अनुसार अधिकारी नियुक्त किए जाने की

व्यवस्था को समाप्त किया। उनकी इकलौती आँख हर जगह अच्छी प्रतिभाओं को खोज निकालती थी। सरकारी नियुक्तियाँ करते समय वे इस बात का ध्यान रखते थे कि समाज के हर वर्ग को उच्च स्तर मे ही नही बल्कि मध्यम तथा अन्य सहायक सेवाओ मे यथोचित प्रतिनिधित्व मिले।

लेकिन महाराजा की सबसे बड़ी उपलब्धि थी जमीन को जोतने वाले को ही उसका मालिकाना अधिकार देना। बिचौलियों को निकालकर राजस्व भी सीधा उन्ही से वसूल किया जाता था। उन्होंने बिचौली प्रथा का अन्त किया।

कुओ का मालिकाना हक देना किसानो को महाराजा की सबसे बड़ी देन थी। जमीन के निष्क्रिय जमीदार या जमीन की जुताई न करने वाले मालिक का कुओं पर कोई अधिकार नही था। इस बात की पुष्टि के लिए रणजीतसिंह ने आदेश जारी किये कि कुओ पर किसानों का नाम भी खुदा होना चाहिए जिससे उनके मालिक का पता लग सके। केवल किसानो को ही नये कुएँ खोदने की इजाजत थी। सूखा पड़ने या अकाल पड़ने पर भूमि-लगान माफ कर दिया जाता था, कृषकों को बीज और अनाज मुफ्त बाँटा जाता था। लड़ाई के समय या सेना के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के दौरान, खड़ी फसलो के हुए नुकसान की पूर्ति राज्य-कोष से की जाती थी। आँखो देखी एक घटना के अनुसार, "फसलों की रक्षा के बारे में महाराजा जितनी सावधानी बरतते थे, वह उल्लेखनीय थी। फौज पर जितना कड़ा नियन्त्रण उनका था, उतना बहुत कम सेनापतियों का होता है।"

फकीर वहीदुद्दीन ने अपने पारिवारिक पत्रो को महाराजा द्वारा फकीर नूरुद्दीन को जारी किया गया १८३१ की शीतऋतु मे प्रशासनिक निर्देश की संज्ञा दी है। इस राज्यादेश का सारांश यह है कि यदि रणजीतसिंह स्वयं किसी अविवेक एवं ज्यादती के लिए दोषी है तो गृह मन्त्री को उनके विरुद्ध कार्रवाई करने मे हिचकना नहीं चाहिए। आदेश पूरी तरह से उतारने योग्य है :

"उज्जल दीदार, निर्मल बुद्ध, सरदार अमीरसिंह जी और हमारे सच्चे शुभ-चिंतक, फकीर नूरुद्दीन। श्री अकाल पुरख की कृपा से आप दीर्घायु हो और श्री अकाल बुद्ध का आपको संरक्षण प्राप्त हो।

"श्रीसतगुरुजी की कृपा से यह ऊर्जित आदेश आपको जारी किया जाता है ताकि अपने आपको लाहौर की सुरक्षा समझते हुए आपको इससे सम्बन्धित अपने कर्तव्यो की ओर ध्यान देना चाहिए, श्रीसतगुरुजी न करे ऐसा हो, अगर महाराज, उसका प्रिय बेटा, खड़कसिंह जी, कवर शेर सिंह जी, दि राजा कलां बहादुर (अर्थात् राजा ध्यान सिंह, प्रधान मन्त्री), राजा सुचेत सिंह अथवा जमादार जो कोई अनुचित कार्य करता है तो आप महाराजा को इससे अवगत कराएँ। दूसरे, आपको अपना विश्वसनीय प्रतिनिधि सरदारों को भेजना चाहिए और साथ ही निर्देश भी दिये जाने चाहिए कि वह अनुचित कार्यों से दूर रहे। इसके

अतिरिक्त आपको लोगों से भूमि छीनने या लोगों के घरों को ढाने जैसे जबरन कार्यों की अनुमति नहीं देनी चाहिए। न ही आपकी बढ़इयों, चारा विक्रेताओं, तेल विक्रेताओं, घोड़ों के नाल लगाने वालों, कारखाना मालिकों आदि के साथ ज्यादती की जाने की अनुमति देनी चाहिए···(आपको) किसी व्यक्ति के साथ सख्ती से बर्ताव करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और महाराजा के ध्यान-योग्य प्रार्थनाओं को उन्हें अग्रेषित किया जाना चाहिए। इसके अलावा आपको चांद मल, शाही दरबार के कोतवाल, तथा बाबा पण्डा को बुलाना चाहिए और उनसे सभी घटनाओं के समाचार प्राप्त किये जाने चाहिए ताकि हर एक व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित रहें और किसी भी व्यक्ति को दबाया नहीं जाता है···हजारा सोवरों को सड़कों की निगरानी के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।"

अतः स्पष्ट है कि जो राज्य महाराजा ने स्थापित किया, वह न तो एक सिख राज्य था, न ही एक 'करीग राज्य' और न ही उसे सैनिक तानाशाही तक की संज्ञा दी जा सकती है। धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के साथ वह एक कल्याणकारी राज्य था या जैसा वी० एस० स्मिथ इसे कहना पसन्द करते हैं: 'दूसरे समुदायों के साथ भागेदारी'। अनपढ़ होते हुए भी उन्होंने बोलचाल की फारसी पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था और खुले दरबार में फकीर अजीजुद्दीन के मसौदे प्रायः ठीक किया करते थे।

महाराजा आधुनिक ज्ञान के प्रतीक थे और फिर भी वे अन्धविश्वासी थे, शकुनों मे विश्वास करते थे। उन्होंने सूर्य और चन्द्रमा की दिशानुकूल विभिन्न प्रकार के पत्थर विभिन्न अवसरों पर पहिने। नरक, स्वर्ग और ईश्वर विषयों पर उनका अंग्रेजी मिशनरी डॉ० जोसफ वुल्फे के साथ वार्तालाप आंखें खोलने वाला है: 'तुम कहते हो कि धर्म की खातिर इधर-उधर तुम यात्रा करते हो। क्यों फिर तुम हिन्दुस्तान मे अंग्रेजों के मध्य प्रचार नहीं करते हो जिनका अपना कोई धर्म नहीं है?' जब वुल्फे ने यह बात विलियम बेंटिक को बताई तो महाराज्यपाल ने सांस ली और कहा 'हाय, भारत के सभी वासियों की यह राय है।' रणजीतसिंह ने अंग्रेज सुसमाचारक को यह याद दिलाते हुए झकझोरा कि 'यदि तुम ईश्वर के व्यक्ति हो तो तुम नदी पार करते हुए नाव मे कांप क्यों रहे हो?'

यह बात भी सर्वविदित है कि कश्मीर घाटी मे अकाल होने पर भी, जब जमादार खुशालसिंह, थैलियां भरकर धन लाया तो महाराजा को आश्चर्य हुआ। कश्मीर के सूबेदार खुशालसिंह को खुले दरबार मे ताड़ना देते हुए उन्होंने हजारों गधों पर गेहूँ लादकर कश्मीर भेजा और मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों और अन्य सार्वजनिक स्थानों से मुफ्त राशन बांटने का इन्तजाम करवाया। प्रजा मे मुफ्त कम्बल बांटे गए ताकि वे खुशालसिंह के कुशासन में उठाये गए कष्टों को भुला सकें।

उनके आदेशानुसार पशु-मेलों का आयोजन किया जाता था और खेती में सुधार के लिए सुझाव देने वालों को भरपूर पुरस्कार दिए जाते थे। अपने एक पत्र मे महाराजा रणजीतसिंह ने, लेहनासिंह मजीठिया को आदेश दिया कि इस बात का ध्यान रखा जाए कि नये जीते गए प्रदेश की जनता प्रसन्न रहे और उन्हे हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हों। यह भी ध्यान रखा जाए कि सभी किसानों की अच्छी घर-गृहस्थी हो। राजस्व वसूली के समय सद्व्यवहार रखा जाए। यह एक नया रिवाज था।

महाराजा के आदेशानुसार, अमृतसर मे पंजाब मे पहला छापाखाना लगाया गया। रणजीतसिंह के आदेशानुसार लाहौर में तोप और बमो के शैल बनाने का पहला ढलाई कारखाना खोलने का काम लहनासिंह मजीठिया को सौंपा गया। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होने इस बात का अनुभव किया कि कोई भी फौज दूसरों से लिये गए हथियारो से नही जीत सकती। इसलिए उन्होने लाहौर मे प्रथम आयुध फैक्टरी खोली। महाराजा ने ही पंजाब की प्रथम चप्पूदार नाव, रावी नदी मे चलाई।

इसमे कोई शक नही कि यदि महाराजा अधिक समय तक जीवित रहते तो पजाब मे औद्योगिक विकास तेजी से होता। उन्होने ५८ वर्ष ७ महीने से कुछ ज्यादा समय तक जीवित रहकर २७ जून, १८३६ को अपना शरीर त्यागा। लेकिन वे एक प्रगतिशील तथा प्रबुद्ध शासक के रूप मे हमेशा याद किए जाते रहेंगे।

पंजाब में एकात्म मानवता की ज्योति जलाये रखने मे महाराजा रणजीतसिंह का नाम हमेशा याद रखा जायेगा।

रानी जिन्दां कौर : पहली महिला स्वतन्त्रता सेनानी

वह उन्नीसवीं शताब्दी के उन प्रसिद्ध व्यक्तियों में से एक थीं जिनका सही मूल्यांकन नहीं हुआ। उन्होंने पाँच वर्ष १८४३ से १८४८ तक पंजाब पर राज्य किया। अंग्रेज रेजिडेंट के शब्दों में वह "सारे भारत में अंग्रेजी-पॉलिसी की अकेली प्रभावशाली दुश्मन थीं।" राज-काज के दौरान उन्होंने पर्दे को त्याग कर, मिलिटरी पंचायतों को सम्बोधित किया, सेनाओं का निरीक्षण किया और दरबार लगाये। हॉबहाऊस को अपने एक पत्र में लार्ड डलहौजी ने रानी के बारे में लिखा : 'यकीन करो, वह अकेली ही सारे राज्य की सेना से अधिक मूल्यवान है।' फिर आगे जोड़ा कि 'पंजाब-भर में केवल उन्हें ही पुरुषोचित समझ हासिल है।' रानी ने अंग्रेजों के लिए उतना ही डर पैदा कर दिया था जितना कि कश्मीर की रानी कोटा ने मगोलों के लिए। यह थीं महाराजा रणजीतसिंह की सबसे छोटी विधवा रानी जिनका नाम था जिन्दां कौर। उनका देहावसान हुआ अपने बेटे और लाहौर के निर्वासित महाराजा की केनजिंगटन स्थित रियासत पर, जिसकी सालाना अतिरिक्त आमदनी, लन्दन के टाइम्स अखबार के अनुसार ५,००,००० पाउण्ड थी। रानी के आखिरी शब्द थे : 'मेरी हड्डियों को इस असत्कारशील देश में मत गलने दो। मुझे मेरे हिन्दुस्तान वापिस ले चलो।'

उनका विवाह १८३५ में महाराजा रणजीतसिंह के साथ हुआ था। बर्फ के ठंडे पानी और रोस्ट चिकन की शौकीन इस सुन्दरी को माँ महाराजा के पास जायदाद के झगड़े की फरियाद लेकर आयी थी। एक ही गवाही में महाराजा अपना दिल गंवा बैठे। नवम्बर १८३८ में उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया जो रणजीतसिंह का सातवाँ पुत्र था।

महाराजा की मृत्यु के बाद उनकी विधवा रानी पर कई लज्जाजनक आरोप लगाये गये। हालाँकि, लाहौर के दरबारी इतिहासकार लाला सोहनलाल सूरी ने विस्तृत रूप से उन बदनसीब नक्षत्रों के बारे में लिखा है, जिनमें राजकुमार पैदा हुआ था। ग्रिफिन ने तो रानी के अनैतिक सम्बन्ध नौकरों और पानी भरने

वालों तक से जोड़े हैं। लेकिन यह सब द्वेष-भरी मनगढंत कपट-कहानियाँ-किस्से हैं, इतिहास नहीं। जे० डी० कनिंघम जिन्हें उनके साफ और साहसिक विचारों के कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरी से निकाल दिया गया था और जिन्होंने सिख-युद्धों को अपनी आँखों से देखा था, अपनी पुस्तक 'सिखों का इतिहास' में लिखते हैं: 'महारानी ने जनता के सामने कभी भी शालीनता का उल्लंघन

रानी जिन्दां कौर: पहली महिला स्वतन्त्रता सेनानी

नहीं किया और दरबार की सभी औपचारिकताओं को निभाया, खासकर अजनबियों की उपस्थित में। रानी के निजी जीवन के विषय में अपयशपूर्ण खबरें गढ़ने वाले निजी कमजोरियों को बढ़ाने-चढ़ाने के लिये काफी बदनाम हैं और हिन्दुस्तान की राजनयिक सेवा को ऐसे मामलों को द्वेषपूर्ण ढग से पेश करने के लिए बुरा-भला सुनना पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के हिन्दुस्तानी नौकर अक्सर कम शिक्षित और कम प्रतिष्ठित परिवारों से होते हैं। वे अपने मालिकों को खुश करने के लिए सभी दूसरों को, खासकर जिनसे उनकी होड़ या टक्कर हो, बदनाम किया करते हैं। चापलूसी की उनकी यह आदत इतनी पक्की है और उनका यह विश्वास कि अंग्रेज सिर्फ अपनी प्रशंसा और दूसरों की बदनामी ही सुनना चाहते हैं, इतना दृढ़ है कि छोटे-से-छोटा अफसर भी सम्बद्ध या आश्रित राजाओं के बारे में अपनी लिखित या मौखिक रिपोर्टों में अप्रतिष्ठित शब्दों का प्रयोग करता है। इसलिए लाहौर के खबरें उड़ाने वालों ने रानी की ऐय्याशी के जो किस्से गढ़े हैं, उनमें से कुछ तो उनकी पेशेवर आदत का फल है और कुछ इस बात का कि अंग्रेज यही सब सुनना चाहते हैं।'

जब रानी जिन्दां ने स्वतन्त्रता सेनानी का रोल अपनाया और पंजाबियों का ध्यान अंग्रेजों की वादा-खिलाफी की ओर दिलाया तो इसके जवाब में रेजीडेण्ट और उसके खुशामदियों ने उनपर गन्दगी और लाछनों की बौछार कर दी। अपने एक भाषण में रानी ने बताया कि कैसे पंजाबियों ने स्यालकोट में सिकन्दर को रोका था, महमूद को खदेड़ा था, बाबर को झुकाया था और अब्दाली का सामना किया था। पंजाब में संकट के दिनों में उन्होंने लाहौर में अपना राजनीतिक खेमा खड़ा किया, जहाँ वह सत्कार-समारोह किया करती थीं। वह धार्मिक समागम भी आयोजित करती थी जहाँ वह ब्राह्मणों के चरण धोती थी और गरीबों तथा जरूरतमन्दों को दान दिया करती थी। एक समय आया कि सारा पंजाब, जो कि देश में अकेला स्वतन्त्र राज्य था, उनके पीछे खड़ा हो गया।

अंग्रेज रेजीडेण्ट को यह कतई गवारा न हुआ और उसने रानी को एक बदमजगी भरा पत्र लिखा जिसका उन्होंने मुँहतोड़ जवाब दिया। हेनरी लारेंस ने उन्हें लिखा था कि उनका दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह सरदारों से एक साथ मिलना, अपने महल में ब्राह्मणों के चरण धोना वगैरह पहले कभी नहीं हुआ और महिलाओं की मर्यादा तथा शाही शिष्टाचार के खिलाफ था। उसने उन्हें दान इत्यादि भी केवल महीने के पहले दिन ही देने और अन्य रानियों की भाँति पर्दे के पीछे बैठने की सलाह दी। रानी जिन्दां ने जवाब में रेजीडेण्ट को अपने ही काम से काम रखने को कहा। उन्होंने साफ शब्दों में रेजीडेण्ट को कह दिया—'जब तक महाराजा (राजकुमार दलीप) हैं और राज्य में स्वायत्त है, मैं भी स्वायत्त हूँ।' उन्होंने

अपना पत्र एक खास कटाक्ष के साथ समाप्त किया : 'यह मेरे लिए सन्तुष्टि की बात है कि मैं और महाराजा दोनों उस दोस्ती का फल प्राप्त कर रहे हैं जिसके पेड़ का बीज रणजीतसिंह ने कम्पनी के साथ मिलकर बोया था। आप बेशक मुझे सुझाव देते रहें, लेकिन सुझाव देने की आपकी हिम्मत कैसे हुई ?'

हेनरी लारेन्स ने पहले अंग्रेज-सिख युद्ध के सबसे बड़े दगाबाज तेजसिंह को, जिसने अंग्रेजों को युद्ध जीतने में मदद दी थी, सम्मानित करने का फैसला किया। इसके लिए एक विशाल समारोह का आयोजन किया गया। २ अगस्त, १८४७ यानी सम्मान-दिवस पर महाराजा की तबीयत खराब हो गई। लारेन्स ने सोचा कि यह रानी जिन्दा द्वारा बनाई गई बीमारी है। बालक महाराजा को समारोह में उपस्थित रहकर उस दगाबाज के माथे पर तिलक लगाने के लिए मजबूर किया गया, जिसको स्यालकोट के राजा का खिताब दिया जाना था। जब तेजसिंह अपने स्थान से उठकर राजगद्दी की ओर बढ़ा और आदर से उसने अपना मस्तक नवाया तो दलीपसिंह ने अपना काम करने से इंकार कर दिया। केसर की कटोरी में अपनी अँगुली डुबोने के बदले उसने बाँहें बाँधकर लारेन्स की ओर अवज्ञापूर्ण लहजे से देखा और वापिस आकर अपनी मखमली कुर्सी पर बैठ गया, जिससे सभी उपस्थित लोग आश्चर्यचकित रह गये। लारेन्स के अनुसार : 'बादशाह ने यह सब कुछ ऐसे विश्वास के साथ किया, जो उसकी उम्र और स्वभाव के विपरीत था। जिस बुद्धि का प्रदर्शन महाराजा ने किया वह तो उसके अधिकतर हमउम्र अंग्रेज बच्चों में भी नहीं होती।' तिलक समारोह को पूरा किया भाई निधानसिंह ने जो सिखों के सबसे बड़े पुजारी थे और रीजेंसी काउंसिल के सदस्य भी।

कम्पनी और रेजीडेंट की इस बेइज्जती के लिए रानी जिन्दा को राजकुमार के लिए की गई एक बनावटी पिकनिक के बाद गिरफ्तार कर लिया गया और दलीपसिंह को एक नया मशीनी खिलौना दिल बहलाने के लिए दे दिया गया। जब वह उससे खेलने में मशगूल था तो उसे बताया गया कि उसकी माँ नहीं रही। लाहौर के अखबारों और रेजीडेंट के अनुसार राजकुमार ने खिलौना दिखलाते हुए उत्तर दिया : 'लेकिन मेरे पास यह तो है।' यह उत्तर ऐतिहासिक झूठ और मनोवैज्ञानिक बकवास है क्योंकि नौ वर्ष का कोई भी हिन्दुस्तानी बच्चा अपनी माँ को इतनी जल्दी नहीं भूल सकता। इसके विपरीत वह तो खिलौने भी सिर्फ अपने माँ-बाप से ही लेना चाहेगा। सिर्फ हिन्दुस्तानी बच्चे ही क्यों, यह बात तो दुनिया-भर के बच्चों के बारे में सच होगी। रानी जिन्दाँ को लाहौर से २५ मील दूर शेखूपुरा के किले में भेज दिया गया, जहाँ से उन्होंने रेजीडेण्ट को तीन बहुत ही हृदय-द्रावक पत्र लिखे। यहाँ से उन्हें फिरोजपुर भेजा गया और बाद में बनारस निष्कासित कर दिया गया, जहाँ से वह नौकरानी के वेष में नेपाल फरार

हो गई, और जहां उन्हें महाराजा रणजीतसिंह के सम्मान को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक शरण मिली। अंग्रेज अपने इस सबसे प्रभावशाली दुश्मन से छुट्टी पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए हालांकि नेपाल में अंग्रेज रेजीडेण्ट ने उनके लिए बहुत मुश्किलें पैदा की।

जो तीन पत्र रानी ने शेखूपुरा से रेजीडेण्ट को लिखे वे विशेष रूप से महत्वपूर्ण है और शुद्ध पंजाबी मे लिखे हुए हैं। ७ अगस्त, १८४७ को लिखे अपने पहले पत्र मे उन्होंने कहा : तुम राज्य को चालाकी से क्यों हथिया रहे हो ? यह काम खुले-आम क्यों नही करते ? एक तरफ तो दोस्ती का दम भरते हो, और दूसरी ओर हमें जेल में डाल रखा है। तीन-चार दगाबाजो के कहने पर सारे पजाब को लड़ने पर मजबूर कर रहे हो।'

जेल में उनके साथ इतना दुर्व्यवहार किया गया कि खाना-पानी भी नही दिया जाता था। किसी भी समय देश में राजकीय परिवार के साथ कभी भी ऐसा व्यवहार नही किया गया। यहां तक कि काबुल से दोस्त मोहम्मद ने भी इसका विरोध किया और कहा कि ऐसे व्यवहार के सामने तो कोई भी ऊँचा या नीचा—मौत को बेहतर समझेगा। २० अगस्त के उसके दूसरे पत्र से मां का दर्द झलकता है : तुमने मुझसे मेरा पुत्र छीन लिया है। दस महीने तक मैंने उसे अपने गर्भ मे रखा। उसके बाद बहुत कठिनाई से उसे पाला-पोसा। उस खुदा के नाम पर जिसमें तुम विश्वास करते हो और उस राजा के नाम पर जिसका तुम नमक खाते हो, मुझे मेरा बेटा वापिस कर दो। मैं अलगाव का दु.ख और अधिक नही सह सकती। न उसका कोई भाई है, न बहन। न चचेरे भाई-बहन हैं, न चाचा। उसके पिता की मृत्यु तो पहले ही हो चुकी है। उसे जाने किसकी देख-रेख मे रखा गया है। अगर उसे कुछ हो गया तो मैं क्या करूँगी ?'

३० अगस्त को लिखा तीसरा पत्र तो और भी दारुण है : 'बिलखते बालक को उसकी मां से छीनकर शालामार बाग ले जाया गया और उसकी मां को बालो से पकड़कर घसीटा गया। क्या दोनों राज्यो के बीच दोस्ती की कीमत इससे अदा हो गई है ? मेरी इज्जत जाती रही और तुम्हारा वचन। जो बर्ताव मेरे साथ किया गया है वह तो खूनियो के साथ भी नही होता।'

रानी जिन्दा अपने खिलाफ लगाये गये आरोपों की खुली और निष्पक्ष जाँच कराना चाहती थी। उन्होंने लन्दन की सरकार की निष्पक्षता और प्रसिद्ध अंग्रेजी न्याय की दुहाई देकर अपील की। उनके वकीलो ने कलकत्ता में गवर्नर जनरल के दरवाजे खटखटाये, किन्तु कोई असर नही हुआ। रेजीडेण्ट ने उन्हें निष्कासित करने से पहले बदनाम करने का फैसला कर लिया था। यह सब पूर्व निर्धारित दुर्भावनापूर्ण नाटक था, बनारस भेजे जाते समय शर्मनाक तरीके से उनकी तलाशी ली गई। यहां तक कि उनके कपड़ों और निजी चीजों को भी बेइज्जती-

भरे तरीके से तलाशा गया। जब वह काठमांडु पहुँची तो अंग्रेजों की प्रतिक्रिया बहुत ही खास थी। होम सरकार ने उनके फरार हो जाने पर खुशी प्रकट करते हुए कहा: 'रानी के फरार होने का काम महत्त्वपूर्ण कम है, गुस्सा दिलाने वाला ज्यादा। कई मायनों में यह फायदेमन्द है। इससे पैसे की बात तो होगी ही, साथ ही आप एक फालतू औरत की देख-रेख से भी बच जायेंगे।'

लार्ड डलहौजी के शब्दों में राज्य, को जीतकर उनके खानदान को नष्ट कर दिया गया और उनकी जायदाद जब्त कर ली गई। रानी के निजी जेवर भी, जो ६ लाख रुपये के थे, जब्त कर लिये गये। इन्हें बनारस के खजाने मे रखा गया और उनकी १००० रु० महीने की पेन्शन भी बन्द कर दी गई। वह काठमाडु में एक सादे से घर मे रहने लगी।

नेपाल मे उन्होने अपना ध्यान धर्म-कर्म में लगाया। एक मन्दिर बनवाया जो आज भी मौजूद है। उन्होने महारानी विक्टोरिया से अपने बेटे दलीपसिंह के साथ इंग्लैण्ड मे रहने की इजाजत मांगी। उनके पार्थिव अवशेषो को गोदावरी में प्रवाहित किया गया क्योकि दलीपसिंह को पंजाब या उत्तर प्रदेश मे प्रवेश की आज्ञा नही मिली।

यह समझना गलत है कि सिख राज्य के पतन में रानी जिन्दां का हाथ है। ध्यान से जानने पर पता लगता है कि वह कसूरवार कम थी, कसूरों की शिकार ज्यादा। सच तो यह है कि वह पंजाब की पहली महिला स्वतन्त्रता सेनानी थी, न कि कोई चालाक औरत या जादूगरनी। वह तो पंजाब की शेरनी थी, लाहौर की बाघिनी, एक ज्योतिर्मय क्रान्तिकारी और एक दबंग आयोजनकर्ता जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद की सबसे बडी दुश्मन थी। चुनार से बैरागिन के रूप में उनका नाव मे फरार होना और कम्पनी के फिरंगी फौजियों द्वारा पटना तक उनका पीछा करना, फिल्माने लायक कहानी है। नेपाल में काठमाडु मे तथा इंग्लैण्ड में कैनजिंग्टन मे उनका प्रवास साहस की दूसरी गाथा है। याद रहे कि वह उस समय अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से निकालने पर तुली थी, जबकि देश की इंच भर भूमि भी स्वतन्त्र न थी। उन्होने नेपाल नरेश को बहुत उकसाया और भारतीय राजाओ को पत्र लिखे लेकिन कोई भी तैयार न हुआ। १ अगस्त, १८६३ को इस स्वतन्त्रता सेनानी का देहान्त हो गया। यदि उनकी योजनाओं में देश के अन्य शासको का सहयोग मिलता, तो शायद आज भारत का इतिहास दूसरा ही होता। १८५७ की क्रान्ति बहुत पहले हो गई होती, और शायद वह सफल भी हो जाती।

अठारह सौ सत्तावन की कहानी

१८५७ का नाम लेते ही रगों में खून दौडना शुरू कर देता है, सिर गर्व से ऊँचा हो जाता है, साथ-साथ दिल उदास भी हो जाता है। यह बगावत थी या क्रान्ति, यह भी एक अन्तहीन विवाद है किन्तु इतना अवश्य है कि प्लासी के युद्ध के पूरे सौ वर्षों के पश्चात् हिन्दुस्तानियों ने फिरंगी की यातना को ललकारा।

मुट्ठी भर लोग दूर-दूर के देशों से आते हैं और इतने विशाल भारतवर्ष को रौंदने में सफल हो जाते हैं—इस बात की कल्पना हर भारतवासी के दिल में कील के समान चुभती थी चाहे वह दिल्ली का मुगल सम्राट् हो या झांसी की रानी, तांत्या टोपे हो अथवा मंगल पाण्डे या मंगू कोचवान। गरीब किसान से लेकर रेढ़ी वाले तक प्रत्येक आदमी स्वयं को फिरंगी के सामने तुच्छ समझता था। भारतीय मस्तिष्क प्राकृतिक रूप से आस्थावान और अन्धविश्वासी है। सभी ने यह सोचना आरम्भ कर दिया कि अंग्रेज की हुकूमत करते हुए एक सौ साल हो गये हैं, अब वह यहां से चला जायेगा और यदि स्वयं नहीं जायेगा तो उसे निकाल देना होगा। कुछ लोगों के दिलों में एक नया विचार पैदा हुआ कि अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और सम्मान यदि एक सौ वर्षों के पश्चात् भी मिल जाए तो फिर भी यह कहा जा सकता है कि इज्जत बच गई। कुछ भी हो, अंग्रेज और उसकी हुकूमत के विरुद्ध प्रत्येक भारतीय के दिल में शोले भभक रहे थे।

अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध भी कानाफूसी जारी थी। तारघर को शैतान का दफ्तर कहा जाता था। रेल के इंजन को 'काला भूत' की संज्ञा दी गई थी। संक्षेप में यह कि भारत की हर विफलता का कारण फिरंगी को ठहराया जाना १८५७ में लोगों का तकिया-कलाम हो गया था। संघर्ष दो सौ वर्ष जारी रहा। यह दो सौ वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में राष्ट्रीय एकता का उदाहरण हैं। झांसी, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बनारस और दिल्ली में हिन्दू-मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध कंधे से कंधा मिलाकर लड़े। इस माहौल में लार्ड डलहौजी की नवीन योजनाओं ने भारतीय रियासतों के लिए आग पर तेल का काम किया। अधिकतर राजा

और नवाब अंग्रेज के घमण्ड से चिढ़े हुए थे। कुछ डलहौजी की नयी पालिसी के कारण जख्मी-परिन्दों के समान फड़फड़ा रहे थे। झांसी, नागपुर, सतारा की तीन मराठा रियासतों पर अंग्रेजों का अधिकार अवैध था। नाना साहब की पेंशन रोक ली गई थी। वह इस वजह से अंग्रेजों का कड़ा विरोध करते थे। अंग्रेजों की धर्म-विस्तार वाली संस्थाओं ने भी लोगों में काफी बेचैनी फैला रखी थी। इन संस्थाओं की गतिविधियों ने भारत देश के विभिन्न धर्मों को एक प्लेटफार्म पर लाकर खड़ा कर दिया था।

उत्तर तथा मध्य देश में, विशेषतः उत्तर प्रदेश और दिल्ली में लोगों की सहानुभूति मुगल सम्राट् बहादुरशाह जफर के साथ थी। बहादुरशाह मुगल वंश का टिमटिमाता हुआ चिराग था। बहुत बूढ़ा होने के बावजूद अपनी लुटी हुई सल्तनत का ख्वाब देखता था जो आज की दिल्ली से पालम तक सीमित होकर रह गई थी। कम्पनी के हिन्दुस्तानी फौजी भी अप्रसन्न थे। एक तरफ तो वेतन कम और दूसरी तरफ अंग्रेज की बर्बरता। कारतूसों वाले मामले ने हिन्दू-मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँध दिया। रोटी और कमल के फूल को 'बगावत' का प्रतीक बनाया गया और ३१ मई फौजी बगावत की तारीख घोषित की गई। यह तय पाया कि उस दिन समस्त भारतीय फौजें अंग्रेजों के आदेशों का पालन करने से इन्कार कर देंगी। बाद में इसे १० मई किया गया। किन्तु मेरठ में १० मई, १८५७ से पूर्व ही ८ मई को फौजी बगावत शुरू हो गई। बहादुरशाह की आयु उस समय ८४ वर्ष थी। फिर भी वह हाथी पर सवार होकर अंग्रेजों से लड़ने के लिए लाल किले से बाहर निकल पड़ा। अपने दरबारियों और प्रजा के कहने पर वह लौट गया और राष्ट्रीय हुकूमत की घोषणा कर दी। अड़तालीस घण्टों में क्रान्तिकारियों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। हजारों अंग्रेज गोलियों से उड़ा दिये गये। बहादुर शाह को हिन्दुस्तान का शहंशाह बनने की पेशकश की गई। पहले तो उसने नहीं माना किन्तु लोगों के बहुत ज्यादा कहने पर बहादुरशाह ने हिन्दुस्तान का शहंशाह होने के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। १४ मई से २१ सितम्बर तक बहादुर शाह का शासन रहा।

भारत के कई और शहरों में भी अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध बगावत की ज्वाला भभक उठी। युद्धों का एक सिलसिला शुरू हो गया। रानी लक्ष्मीबाई ने तलवार उठा ली। महाराष्ट्र में तात्या टोपे ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। लखनऊ शहर के बाहर अंग्रेजों को पराजित होना पड़ा। ३० जून से नवम्बर तक लखनऊ की घेराबन्दी जारी रही। जनरल औटरम और हैवलॉक ने बड़ी हिम्मत से काम लिया। अन्ततः उनका फैलाया हुआ षड्यन्त्र लखनऊ की जनता और सिपाहियों के बीच खाई पैदा करने में सफल हुआ, जिसके परिणामस्वरूप लखनऊ के नवाब ने हथियार डाल दिये। कानपुर में अंग्रेजों का 'कत्लेआम' हुआ।

दिल्ली की बादशाहत बहादुरशाह के पास २१ सितम्बर तक रही। अन्ततः जब बादशाह को हुमायूँ के मकबरे में गिरफ्तार कर लिया गया तो शहर दिल्ली एक बार फिर अंग्रेज के अधिकार में आ गया। मुगल बादशाह के दो लड़कों को खूनी दरवाजे के पास गोली से उड़ा दिया गया। बादशाह पर मुकदमा चलाया गया और उसे रंगून मे देश-निकाला दे दिया गया, जहाँ दिसम्बर १८६४ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। कानपुर का बदला दिल्ली के मासूम और बेगुनाह लोगो से लिया गया। असंख्य लोगो को मौत के घाट उतार दिया गया। लाशो के ढेर लग गये। उधर जनरल नेल ने इलाहाबाद से कानपुर तक के मार्ग में कहीं कोई ऐसा वृक्ष न छोड़ा जिसपर हिन्दुस्तान के बहादुर सपूतों की लाश को न लटकाया गया हो। चश्मदीद इतिहासकारो तथा सिपाहियों का कथन है कि ये भयावह दृश्य हिन्दुस्तानियो को सबक सिखाने के लिए दिखाये गये थे और यथार्थ में लोग वृक्षो मे लटकी हुई लाशों के इन दृश्यों को कई वर्षों तक नही भूल पाये। इलाहाबाद से कानपुर तक के मार्ग के इस कत्लेआम के सामने नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के कत्लेआम के दृश्य फीके पड़ गये।

दिल्ली पर अधिकार के बावजूद १८५७ वाला संघर्ष समाप्त नही हुआ। २० वर्षीय लक्ष्मीबाई और उसके बहादुर जनरल तांत्या टोपे अप्रैल सन् १८५७ तक इसी बहादुरी के साथ अंग्रेजों का मुकाबला करते रहे जिसका उदाहरण इतिहास मे मिलना मुश्किल है। लक्ष्मीबाई रणभूमि मे लड़ते-लड़ते शहीद हुई। मरते समय, टीपू सुल्तान की तरह उसके हाथ में भी तलवार थी। तांत्या टोपे तो उसके बाद भी अंग्रेजों के दांत खट्टे करता रहा। किन्तु १८५७ में उसे धोखे से पकड़ लिया गया और गोली से उड़ा दिया गया। तब कहीं जाकर अंग्रेज हुकूमत को चैन आया।

इतिहासकारो की राय यह है कि १८५७ की बगावत न तो कोई योजनाबद्ध बगावत थी और न ही यह सारे हिन्दुस्तान की बगावत थी। दिल्ली में बख्त खाँ अत्यन्त ईमानदार और बहादुर सेनापति था जो अंग्रेजी शासकों को जड़ से उखाड़कर फेंक देना चाहता था। किन्तु उसकी पराजय के पीछे अन्य भारतीय सरदारों का हाथ रहा है, जिनके षड्यन्त्रों का वह शिकार हुआ। इसी तरह लखनऊ के सिपाहियों और लोगों ने रेजीडेण्ट को करीब-करीब बन्दी ही बना लिया था। लेकिन, उन्हे यह सन्देह था कि युद्ध-समाप्ति के पश्चात् अवध की मलिका उन्हें नौकरी से निकाल देगी क्योंकि खजाना खाली हो चुका था और उनकी तनख्वाहें केवल युद्ध जारी रहने ही की सूरत मे बरकरार रह सकती थी। स्पष्ट है कि वह रेजीडेण्ट को गिरफ्तार अथवा खत्म करके युद्ध को समाप्त नही करना चाहते।

भारतीयों के विपरीत, जो विभिन्न कारणों से बँटे हुए थे, अंग्रेज के लिए

यह जंग एक कौमी जंग थी और वे अपनी मलिका के लिए और अपने वतन पर कुर्बान होने के लिए वह स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए युद्ध में कूद पड़े थे। अपने देश से हजारों मील दूर वे युद्ध मे व्यस्त थे। उनकी सबसे बड़ी शक्ति 'भारतीय गद्दार' थे। अहमदुल्लाह, कुँअरसिंह और तांत्या टोपे को छोड़कर प्रत्येक लीडर का कोई न कोई निजी मकसद अटका हुआ था। सम्पूर्ण भारत के लिए स्वतन्त्रता संग्राम करने वाले सेनानी बहुत कम थे।

जब लीडरों की यह हालत थी तो जन-सामान्य की हालत क्या होगी? इसका अनुमान तांत्या टोपे के अन्तिम दिनों से लगाया जा सकता है। जब वह जंग में हार गया तो उसे विश्वास था कि यदि वह नर्मदा नदी को पार करके अपने महाराष्ट्र मे पहुँच गया तो वहाँ की जनता उसका भव्य स्वागत करेगी। किन्तु, जब एक दैविक शक्ति और दिलेरी के साथ उसने नर्मदा नदी को पार किया तो दूसरे किनारे पर स्थित किसी एक भी गाँव ने उसका साथ न दिया। तांत्या टोपे निराश होकर जंगलो में भटकता फिरा और फिर एक दिन जब वह सो रहा था तो उसके एक जिगरी दोस्त ने ही उसे धोखा दिया और अंग्रेजो को खबर कर दी।

इन सारी खराबियों के बावजूद एक चीज जो बार-बार उभरती है वह है हिन्दू-मुस्लिम एकता। स्पष्ट है कि लीडरों को इस एकता को उभारने के लिए कोई खास दौड़-धूप नही करनी पडी। यह एक हिन्दुस्तानी समाज की खास खूबी रही है। यह भी हकीकत है कि १८५७ से पूर्व भी कम्पनी के शासकों ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को जाग्रत कर उन्हें हमेशा एक दूसरे से अलग रखने की कोशिश की है। कम्पनी के डायरेक्टरों की रिपोर्टों से पता चलता है कि उन्होने हमेशा ऐसे षड्-यन्त्र रचने की कोशिशें की हैं। कर्नल टॉड द्वारा लिखित 'राजस्थान का इतिहास' और 'ईस्ट इण्डिया का भारत का इतिहास' नामक पुस्तकें इस बात का उदाहरण हैं कि हिन्दू-मुस्लिम एकता कम्पनी के लिए हमेशा हानिकारक समझी गई है। ये दोनों सरकारी मुलाजिम थे और इतिहासकार भी। अंग्रेज आश्चर्यचकित थे कि हिन्दू इतिहासकार मुसलमान बादशाहों के न्याय और दूसरे धर्मनिरपेक्ष कारनामों की प्रशंसा कैसे कर सकता है। पूरे एक सौ वर्षों तक कम्पनी ने दोनों के बीच घृणा के बीज बोने की कोशिश की। इसके बावजूद हिन्दुओं और मुसलमानो के जीवन का ढंग मिलाजुला ही रहा है। यही कारण है कि १८५७ के युद्ध मे हिन्दू-मुसलमान भाइयों के समान अंग्रेज को भारत से निकालने के उद्देश्य से कंधे से कंधा मिलाकर लड़े। मौलाना आजाद, जिन्होने सुरेन्द्रनाथ सेन की पुस्तक की प्रस्तावना लिखी हैं, इस बात को खुले गले से कहते हैं कि आने वाले कल के इतिहासकार को यह बात कभी नही भूलनी चाहिए—जब हिन्दुस्तानी सिपाहियों के सामने यह सवाल आया कि अंग्रेज के बदले उनका शासक कौन होगा तो बिना

है कि मुगलों को और उनकी हुकूमत को भारत की जनता ने अब पराया समझना छोड़ दिया था। सन् १८५७ की बगावत ने यह बात साबित कर दी।

अंग्रेजों के लिए यह हिन्दू-मुस्लिम एकता असहनीय वस्तु थी। इसलिए १८५७ के पश्चात् उन्होंने ऐसे कई कदम उठाए जिससे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक खाई उत्पन्न हो गई। हिन्दू-मुस्लिम के प्रश्न तथा हिन्दू-मुस्लिम दंगे-फसाद अंग्रेजी साम्राज्य की दीवारों को मजबूती देते रहे हैं। अंग्रेज भारत से जाते-जाते भी १९४७ में हिन्दू-मुस्लिम घृणा के बीज बो गया। स्पष्ट है कि १८५७ से पहले या अंग्रेज की हुकूमत से पहले हिन्दू-मुस्लिम दंगे नहीं होते थे। मिसाल के तौर पर महाराजा रणजीतसिंह के चालीस वर्षीय शासनकाल (सन् १७९९ से १८३९ तक) में एक भी साम्प्रदायिक दंगा नहीं हुआ था। यहाँ तक कि औरंगजेब के काल में भी कोई साम्प्रदायिक दंगा नहीं हुआ, जबकि हिन्दू और मुस्लिम शासकों के बीच युद्ध होते रहे। बहादुरशाह जफर ने गोवध बन्द करने का कानून जारी किया। मुगलकालीन सिक्कों पर हिजरी सन् तथा विक्रमी संवत् दोनों ही खुदे होते थे। बसन्त, होली, राखी, दीवाली, ईद, दशहरा आदि हिन्दू-मुसलमानों के मिले-जुले त्योहार हुआ करते थे। स्पष्ट है, यह एकतामय जीवन १८५७ में एक ऐसे संयुक्त मोर्चे के रूप में उभरा कि अंग्रेज मानसिक तौर पर घायल हो गया। यह घाव इतना गहरा था कि अंग्रेज कई वर्षों तक इससे उठ नहीं सका। बगावत को दबा देने में कामयाब हो जाने के बावजूद अंग्रेज ने स्वयं को चारों ओर से घिरा हुआ पाया, क्योंकि हिन्दुस्तानी जनता पर से उनका विश्वास उठ चुका था। इसका एक नतीजा यह निकला कि अंग्रेज ने अपनी फौजी ताकत को बढ़ाना आरम्भ किया और दूसरे यह कि उन्होंने हिन्दुस्तानियों के साथ अपने सामाजिक सम्बन्ध बहुत ही कम कर दिये। अंग्रेज यह जानता था कि भारत के इतिहास में जितने भी योद्धा बाहर से आये वे सब इसी के समाज और सभ्यता में घुल-मिलकर एक हो गये। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रेल धक्का पेल, ठेलमठेल के साथ-साथ खेल खेलती चलती रही। अंग्रेज इस हिन्दुस्तानी सभ्यता से बौखलाया हुआ था, इसलिए उसने इस रेल में अपने लिए अलग डिब्बे लगवाए। उसने भारत को कभी भी अपना देश नहीं समझा, उनका जीवन अधारण भारत में भी वैसा ही रहा जैसा कि इंग्लैण्ड में था। मनोरंजन के लिए उन्होंने अपने अलग क्लब बनवाए जिनके मुख्य द्वार पर लिखा रहता था 'यहाँ हिन्दुस्तानी और कुत्ते नहीं आ सकते'। हिन्दुस्तानियों से वह अपनी देवढ़ी ही में आकर

मिलते थे।

अंग्रेज को अपना धर्म-प्रचार कार्यक्रम भी कम करना पडा। भारतीय रीति-रिवाजों से अनभिज्ञ अंग्रेज अफसर यह भूल गया था कि हिन्दुस्तानी सिपाही फौज की नौकरी छोड़ सकता है किन्तु जात-बिरादरी नही। इतिहास साक्षी है कि भारतीय सेना ने बर्मा जाने से इंकार कर दिया था क्योंकि बर्मा भारत से बाहर है और समुद्र पार जाना हिन्दुओं के लिए निषिद्ध है। फिर अफगान युद्ध में क्या हुआ? हिन्दू सैनिकों को मुसलमानों से रोटी खरीदनी पड़ी। न वहाँ कोई मन्दिर और न पण्डित, जो फौजी युद्ध में मारे गये उनके दाह-संस्कार के लिए लकड़ियाँ नही मिली और यदि मिल भी गईं तो गंगा मैया कहाँ! हिन्दुस्तानी मुसलमान सिपाहियों ने भी गोलियाँ मुसलमान भाइयो पर ठीक निशाने पर नही लगाईं। मेरठ मे हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने गाय और सुअर की चर्बी वाले कारतूसों को मुंह लगाने से इंकार कर दिया। कानपुर मे सस्ता आटा बेचने के बहाने गाय और सुअरकी हड्डियो पर सफूफ दुकानो मे रखवाया गया। इन तमाम चीजों ने बगावत की आग भड़काई थी। अंग्रेज समझ गया कि उसको अपने प्रचार-प्रसार कार्यक्रम में शीघ्र ही परिवर्तन करने पड़ेंगे।

अंग्रेजों को खुफिया पुलिस की संख्या बढानी पड़ी। जनसामान्य की हालत से पूरी तरह जानकारी रखने के लिए इण्डियन कौंसिल एक्ट के अधीन कुछ हिन्दुस्तानियों को प्रान्तीय विधान सभाओं में शामिल किया जाने लगा। फौज मे अंग्रेजो की संख्या बढानी पडी।

अंग्रेजो को पूर्ण रूप से इस बात का भी आभास हो गया कि 'खून का बदला खून' वाली नीति भारत मे नही चलेगी। जनरल नेल द्वारा चलाया जाने वाला दमनचक्र भारतवासियो के दिलो मे अंग्रेजों के लिए नफरत के अतिरिक्त कुछ और पैदा न कर सका। अंग्रेज इतिहासकार लिखता है कि कानपुर और इलाहाबाद में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने मौत को ऐसे गले लगाया जैसे वह दुल्हन हो। मुसलमान फाँसी का फन्दा चूमने से पहले नमाज में झुक गये और उनके हिन्दू भाइयो ने तो मौत को ऐसे समझा जैसे वे किसी लम्बी यात्रा पर निकले हों।

"कैसे लोग हैं ये?"

"किस प्रकार की सभ्यता है यह?"

"इन लोगों को अपनी सभ्यता पर इतना गर्व है?"

ये अंग्रेज चश्मदीद गवाहो के बयानात हैं। कहते हैं हर मरने वाले को कानपुर मे जनरल नेल पहले बीबीघर लाता था। मुँह से खून साफ कराता था। यह जानते हुए कि इन बेचारों का बीबीघर के कत्ल-खून से कोई सम्बन्ध नहीं। सरकारी रेकार्डों और जाँचों के बावजूद कोई ऐसा सबूत नही मिला जिससे यह पता चले कि नाना साहब का भी इस कत्ल में हाथ था। इसके विपरीत ऐसे कई

सबूत मिले हैं जिनसे साफ जाहिर है कि नाना साहब ने सती घाट के कत्ल को रोकने की पूरी कोशिश की थी।

जहाँ तक सभ्यता का प्रश्न है अंग्रेज की हुकूमत भारत के उच्च वर्ग के अतिरिक्त जनसामान्य पर अधिक प्रभाव न डाल सकी। १८५७ तक एक मुगल, एक राजपूत, एक मराठे तथा एक सिख के बीच फर्क करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य था। १८५७ के पश्चात् अंग्रेज ने राष्ट्रीय रेजीमेण्टों के नाम कुछ इस प्रकार रखे और उनकी वेशभूषा ऐसी रखी जिसके कारण उनमे सरलतापूर्वक भेद किया जा सके। ऐतिहासिक दृष्टि से १८५७ के उपरान्त हम एक नये ऐतिहासिक युग मे प्रवेश करते हैं। भारत पर कतिपय नही अपितु असंख्य आक्रमण हुए किन्तु देश का इतिहास सामाजिक दृष्टिकोण से प्रत्येक आक्रमण के पश्चात् किसी नये युग में प्रविष्ट नही होता था बल्कि एक महान सामाजिक विस्तार तथा उन्नति के एक नवीनतम परन्तु स्वाभाविक चरण मे प्रवेश करता था, जो भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही प्रचलित है। कुछ इतिहासकारो द्वारा उठाई जाने वाली यह आपत्ति अनुचित नही है कि केवल अंग्रेजों के अपने अथवा कम्पनी के दस्तावेजों से प्राप्त की हुई भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की एकांगी तस्वीर इस देश के लोगों के साथ न्याय करने में असफल सिद्ध हुई है क्योंकि अंग्रेजो ने देश के सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण नही किया है। अधिकतर अंग्रेज इतिहासकार कम्पनी या उसकी सेना के अफसर थे और निरपेक्ष रूप मे ईमानदारी के साथ अपना कार्य नही कर सकते थे। लाहौर के शासक महाराजा दलीपसिंह के साथ कम्पनी सरकार और फिर ब्रिटिश सरकार ने जो वायदा किया था उसे पूरा नहीं किया, ऐसी बेईमानी का उदाहरण समूचे इतिहास में नही मिलता। अवध के बादशाह और कम्पनी सरकार के बहुत पुराने और मजबूत सम्बन्धों को कलम के एक ही झटके के साथ समाप्त कर दिया गया। पेशवा के साथ भी कम्पनी का व्यवहार सभ्यतापूर्ण न था किन्तु किसी भी अंग्रेज इतिहासकार ने इन घटनाओं का वर्णन करने की आवश्यकता तक महसूस नही की। अवध के बादशाह ने तो अन्तिम साँस तक अंग्रेज सरकार का साथ नही छोड़ा। पहले उसने ब्रिटिश रेजीडेण्ट के समक्ष अपील की, फिर गवर्नर जनरल के द्वार तक अपने दूत भेजे और इसके पश्चात् अपने भाई तथा माँ से महारानी विक्टोरिया के नाम निवेदन-पत्र लिखवाए, किन्तु अंग्रेजों ने किसी उचित कारण के बिना ही आक्रमण कर दिया और बेगुनाहों पर अत्याचार किये, फिर अवध के ताजदार ने अपना ताज अंग्रेजों के कदमों में रख दिया। अंग्रेज फिर भी टस से मस नही हुआ क्योंकि वह तो अवध पर पूर्ण अधिकार करना चाहता था क्योकि अवध के बगैर हिन्दुस्तान का नक्शा पूर्ण रूप से लाल नही हुआ था और अंग्रेज लाल नक्शे का स्वप्न काफी समय से देख रहा था जो अवध के साथ ही साकार हो सकता था। अन्तत. वही

हुआ जो होना था। १८५७ की बगावत के बाद अंग्रेजों की नीति ने दोनों धर्मों के अनुयायियों के बीच घृणा की एक ऐसी खाई तैयार कर दी जो आसानी से पाटी नही जा सकती थी।

१८५७ के पश्चात् अपनी विजय पर फूला हुआ अंग्रेज एक और मानसिक रोग का शिकार हो गया। इस रोग का नाम था 'सफेद नसल का बोझ'। अंग्रेज ने स्वयं को विश्वास दिलाया था कि भारतीय कौम एक असभ्य कौम है और इसे सभ्य बनाना उसका कर्तव्य है। दूसरे शब्दों में, हिन्दुस्तान पर राज्य करना उनका सांस्कृतिक कर्तव्य है। वास्तव में वे भारत पर शासन करके यहाँ की जनता पर अहसान कर रहे हैं क्योकि वे उन्हें सभ्य बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह तर्क विचित्र जरूर है किन्तु इस तर्क को समझने के लिए मस्तिष्क पर जोर डालना होगा। इतिहास भी अपना फर्ज नही भूलता। अंग्रेज भूल गया कि इसी भारतवर्ष में जब वेदों जैसी महान पुस्तकें लिखी जा रही थी, उस युग में अंग्रेज तो क्या समस्त यूरोप के लोग जंगलो मे जानवरों की भाँति जीवन निर्वाह कर रहे थे। बन्दरों की भाँति वृक्षो पर कूदते फिरते थे। खाल पहनकर असभ्य लोगों के समान जीवन जीते थे। सफेद नसल का बोझ अपने ही बोझ के नीचे दब गया। उसने जो सदियों से कमाया था वह इनाम के तौर पर रायबहादुरों, खानसाहबो और सरदार बहादुरो के रूप मे भारतीय राजाओ तथा नवाबो मे बाँट दिया। सफेद नसल को ललकार के उनका अपना कवि रेडहार्ड किपलिंग कहता है—

> तुम जिनके साथ सलूक करोगे
> उनका आरोप तुम्हारा बदला होगा।
> तुम जिनकी सुरक्षा करोगे,
> उनकी घृणा तुम्हारा बदला होगा॥
> सफेद नसल का कर्ज अब तुम्ही को चुकाना है।

किन्तु उन्हीं का एक इतिहासकार सफेद नसल के बोझ को एक गुब्बारे से उपमा देता हुआ कहता है कि उसमें इतनी ज्यादा हवा न भरो नही तो फट जाएगा। स्पष्ट है कि इतिहासकार सैली की यह सफेद आवाज, उसकी सफेद नसल तक नही पहुँची और सफेद नसल अपने टीम-टाम के साथ १९४७ मे अपने घर वापस चली गई। जिस प्रकार बर्बर लुटेरा लूटने के पश्चात् घर को तबाह कर जाता है, उसका नाम मार देता है, खिड़कियाँ, दरवाजे, नल, बिजली के स्विच तोड़-फोड़ जाता है उसी प्रकार अंग्रेज भी भारत छोड़ते समय कई चीजें तोड़-फोड़ गया। कुछ वस्तुएँ अपने साथ ले गया और कुछ छोड़ भी गया; जैसे अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य विचार तथा

'फूट डालो और राज्य करो' की नीति। यह कहना गलत होगा कि भारत को अंग्रेजी भाषा के कारण आजादी प्राप्त हुई है हालांकि आजादी किसी भाषा विशेष की देन नहीं होती; गुलामों की भाषा एक होती है। गुलाम खामोशी के साथ जजीरें तोड़ सकते हैं। यह केवल संयोग है कि अंग्रेजी भाषा ने पढ़े-लिखे लोगों को एक प्लेटफार्म पर लाकर खड़ा कर दिया। इस प्लेटफार्म का नाम इण्डियन नेशनल कांग्रेस था जिसका शताब्दी समारोह सन् १९८५ में मनाया जा रहा है। अंग्रेजी शिक्षा से सम्पन्न इस पार्टी ने देश में राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया। राष्ट्र के सोये हुए वैभव को जाग्रत किया।

अमर शहीद मदनलाल धींगड़ा

(१८८७-१९०९)

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में अंग्रेजी हुकूमत का दमन-चक्र भारतीय जनता पर अपनी पूरी निरकुशता के साथ जारी था और गरीब जनता को लगातार रौंदा जा रहा था। देश का धनाढ्य वर्ग हुकूमत के साथ था और सफेद साहबों के प्रति अपनी वफादारी प्रदर्शित करने की उनमें होड़ लगी हुई थी। अंग्रेजो और देशी रजवाड़ो के असहनीय अत्याचारो से प्रजा अत्यन्त दु.खी थी। जनता बहुत उदास थी लेकिन कुछ भी करने मे इसलिए असमर्थ थी कि उनका कोई ऐसा अगुआ नही था जो उनको कोई ठीक मार्ग सुझाता और किसी राजनीतिक संघर्ष के लिए तैयार करता। जो थोड़ी-बहुत राजनीतिक हलचल दिखाई देती थी वह केवल शासकों से छोटी-मोटी रियायत पाने मात्र के लिए थी। उससे बड़े कार्य की अपेक्षा करना व्यर्थ था। मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने वाले युवकों की टोलियाँ भी कोई सही मार्ग पाने के लिए व्यग्र थी और जनता को राहत देना चाहती थी। इन नौजवानों में, जो यह मानते थे कि जनता की भावनाओ को समझकर देश के लिए कुछ किया जाए और समय पड़ने पर अपने प्राणो की बाजी भी लगा दी जाए, यह विचार पनप रहा था कि क्रान्ति जरूरी है। मदनलाल अपने देश का ऐसा ही सपूत था जिसने अपने प्राणो के उत्सर्ग द्वारा सारे देश को प्रेरणा दी और जनता के सामने एक नया राजनीतिक मार्ग प्रशस्त किया।

मदनलाल की जन्मतिथि और जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। धींगड़ा परिवार के सम्बन्ध में अमृतसर की नगर-पालिका मे उपलब्ध हो सकने वाले कागजात कदाचित् दीमकों के शिकार हो गए या वहाँ की राजनीतिक गड़बड़ियों मे नष्ट कर दिये गये। फिर भी इतना पता चलता है कि उनके जन्म के ३० वर्ष पूर्व धींगड़ा परिवार अमृतसर में आ बसा था। समाचार-पत्रों की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९०९ मे जब उनको फाँसी दी

गई थी, वे मात्र २२ वर्ष के थे। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका जन्म सन् १८८७ में हुआ था। कहा जाता है कि उनका जन्म अमृतसर में हुआ था जहाँ उनके पिता डॉक्टर साहब दित्ता मल के बहुत से मकान और जायदाद थी।

डॉक्टर साहब दित्ता मल पंजाब चिकित्सा सेवा में सिविल सर्जन के पद से रिटायर हुए थे। वे अंग्रेजी हुकूमत के वफादार मित्रों में से थे और अंग्रेज साहबों और स्थानीय डिप्टी-कमिश्नरों और जजों के साथ मेलजोल रखते थे। मदनलाल के ६ भाई थे। ५ बड़े और एक उनसे छोटा, और एक बहन थी। उनका छोटा भाई कुन्दन लाल व्यवसाय करता था और बाकी भाई प्रसिद्ध डाक्टर और वकील थे। सभी भाई हुकूमत के वफादार थे और शासकों की चापलूसी में व्यस्त रहते थे। उनके दो बड़े भाइयों ने तो एक स्वास्थ्य-पत्र भी प्रकाशित किया था जिसका नाम रखा था 'मिन्टो हेल्थ पैम्फलेट'। उनके एक रिश्तेदार पटियाला राज्य के मन्त्री थे। धींगड़ा पंजाब के खत्रियों की एक प्रमुख उपजाति है।

अपने बचपन से ही मदनलाल संवेदनशील था और उसका सोचने का ढंग भी कुछ अलग था। वह जिज्ञासु प्रवृत्ति का, अत्यन्त परिष्कृत रुचियों से सम्पन्न था। उसकी स्कूल के दिनों में कला की अपेक्षा विज्ञान में अधिक रुचि थी। तथापि कालिज के दिनों में वह इसके विपरीत कला में रुचि लेने लगा।

मदनलाल के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। उन्होंने गवर्नमेण्ट कॉलिज, अमृतसर से मैट्रिक की परीक्षा पास की। इण्टर म्युनिसिपिल कालिज, अमृतसर से किया और कुछ समय के लिए गवर्नमेण्ट कॉलिज, लाहौर में भी पढ़ते रहे। इसके सम्बन्ध में जानकारी नहीं मिलती है कि मदनलाल ने अपनी पढाई क्यों बन्द कर दी। उन्होंने कुछ समय तक पंजाब सरकार के कश्मीर सैटलमेण्ट विभाग में काम किया और कुछ समय तक अपने चाचा के अधीन परिवहन सेवा में भी रहे। अपनी पढ़ाई के एकाएक बन्द हो जाने से वे उदास रहते थे और एक दिन इसी उदासी के दौरान वह बम्बई भाग गये और एक जहाज में मल्लाह हो गये।

मदनलाल सन् १९०६ में इंजीनियरी पढ़ने के लिए लन्दन भेजे गए। वे मई के महीने में वहाँ पहुँचे और १९ अक्तूबर को यूनिवर्सिटी कॉलिज में दाखिल हुए। पंजाब उस समय घोर अशान्ति में डूबा हुआ था। चारों तरफ हड़तालें, प्रदर्शन और सभाएँ हो रही थीं। कृषक समुदाय विद्रोह की तैयारी में था क्योंकि जमीन और पानी पर बहुत सा अतिरिक्त कर लगा दिया गया था। अमृतसर, जो कभी एक शान्तिप्रिय जिला माना जाता था, आजादी के संघर्ष का प्रमुख केन्द्र बन गया था।

मदनलाल लन्दन में तीन वर्ष तक रहे। इन तीन वर्षों में उन्होंने कॉलिज

अमर शहीद मदनलाल धींगड़ा

की प्रथम एवं द्वितीय वर्ष की परीक्षाएँ पास कीं और साथ ही साथ राजनीतिक शिक्षा भी प्राप्त करते रहे और इसी कारण उनमें एक राजनीतिक विचारधारा का विकास हो गया था। वे तृतीय वर्ष में पढ़ रहे थे और अक्तूबर १६०६ में इस अन्तिम वर्ष की परीक्षा होने वाली थी। वे लन्दन में इण्डिया हाउस के होस्टल में काफी समय तक रहे जिसकी स्थापना प्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा ने की थी। यहाँ वे विनायक दामोदर सावरकर के सम्पर्क में आये। कृष्ण वर्मा और सावरकर दोनों ही बम की राजनीति के पक्षधर थे और इतालवी स्वतन्त्रता सेनानी मैजिनी और गैरीबाल्डी उनके आदर्श थे। उस समय धींगड़ा १६ वर्ष के थे और सावरकर की आयु २२ वर्ष की थी। ऐसा कहा जाता है कि सावरकर ने धींगड़ा की वीरता की परीक्षा ली थी और उनके हाथ में एक कील ठोक कर यह परीक्षा ली गई थी। धींगड़ा ने अपना हाथ नहीं हटाया था, यद्यपि हाथ से खून गिरने लगा था। इसके विपरीत वे दर्द को मुस्कराते हुए झेल गए थे। इस बात ने सावरकर को बहुत प्रभावित किया। जब कन्हाई लाल, खुदीराम बोस और हेमचन्द्र दास आदि भारतीय क्रान्तिकारियों को अंग्रेजी हुकूमत द्वारा फाँसी दी गई तब धींगड़ा एक बैज लगाकर कॉलिज में गए जिस पर लिखा था—'शहीदों की स्मृति में।' उस बैज को लगाकर अपनी कक्षा में भी गए। जब उनके शिक्षक ने बैज को हटाने के लिए कहा तो उन्होंने इंकार किया और इसके लिए उन्हें जुर्माना भरना पड़ा।

यद्यपि सावरकर ने अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र पेरिस बना लिया था, तथापि धींगड़ा पर उनका प्रभाव उसी प्रकार था। मदनलाल भारतीय क्रान्तिकारियों की गुप्त बैठकों में नियमित रूप से भाग लेते थे। वे उस बैठक में भी उपस्थित थे जिसे सम्बोधित करते हुए लाला लाजपतराय ने कहा था कि हमारे नौजवानों को भारतीय स्वतन्त्रता के वृक्ष को सींचने के लिए अपना खून देना होगा। वे एक प्रशिक्षित बन्दूक चलाने वाले शिक्षक से गोली चलाने का प्रशिक्षण भी ले रहे थे। 'स्वातंत्र्य समर' नामक सावरकर की पुस्तक, जो मूलतः मराठी में लिखी गई थी और कालान्तर में अंग्रेजी में १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की २२वीं पुण्य-तिथि पर १० मई, १६०६ को हॉलैण्ड से प्रकाशित हुई थी, धींगड़ा की प्रिय पुस्तक थी। उस समय वे कुमारी मैरी हैरिस के पेइंग गैस्ट के रूप में १०८, लेदीबरी रोड पर रहते थे। वे अभिनव भारत सोसाइटी और इण्डियन होमरूल सोसाइटी की कार्रवाइयों से भी सम्बन्धित थे। वे जुलाई १६०६ के उस उद्घाटन दिन से ही, जिस दिन गोली चलाने की शिक्षा प्रारम्भ हुई थी, नियमित रूप से कुछ घण्टे इस प्रशिक्षण में व्यतीत करते थे। उनकी व्यक्तिगत डायरी में इस गोली चलाने के प्रशिक्षण का विस्तृत ब्यौरा मिलता है।

धींगड़ा परिवार जो कि वफादार और जीवन में अत्यन्त सफल माना जाता

था, अपने परिवार के उस 'काले धब्बे' को मिटाना चाहता था और मदनलाल की जिन्दगी में भी परिवर्तन लाना चाहता था। इसी विचार को फलीभूत करने के लिए पहले उन्होंने उसे लन्दन भेजा ताकि वह अंग्रेज महाप्रभुओं के विशाल साम्राज्य की राजधानी में रह सके। मदनलाल के छोटे भाई कुन्दनलाल बहुत प्रसिद्ध व्यवसायी थे और उनके ब्रिटिश प्रशासन के एक उच्च अधिकारी से मित्रता के सम्बन्ध थे जिसके जरिए वे इस विद्रोही युवा के विचारों पर प्रभाव डालना चाहते थे। इनका नाम सर कर्जन वाइली था। ये भारत के राज्य सचिव के राजनीतिक सलाहकार थे। इस लम्बे-तड़गे एंग्लो-इण्डियन ने भारतीय सेना के विभिन्न पदों पर काम किया था। वे कई राज्यों और नेपाल में ब्रिटिश रेजीडेण्ट के रूप में रहे थे। अजमेर प्रभाग के चीफ कमिश्नर भी रहे थे। कुन्दनलाल ने सर कर्जन से आग्रह किया वे उनके भाई पर अपनी नजर रखें। उनके अनुरोध पर सर कर्जन वाइली ने १३ अप्रैल, १९०९ को एक पत्र मदनलाल को लिखा। उन्होंने अपने पत्र में लिखा कि ३० अप्रैल के बाद ग्यारह से साढ़े तीन के बीच दोपहर मे कभी भी उनसे मिलकर उन्हें प्रसन्नता होगी।

इस पत्र से मदनलाल को लगा कि उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए यह पत्र भेजा गया है। इस पत्र को उन्होने एक भारतीय के व्यक्तिगत मामलों मे हस्तक्षेप माना।

१ जुलाई, १९०९ की रात इण्डिया हाउस लन्दन के इन्स्टीट्यूट ऑफ इम्पीरियल स्टडीज के जहाँगीर हाउस मे एक समारोह आयोजित किया गया। इस समारोह में बड़ी सख्या मे भारतीय, सेवा-निवृत्त अंग्रेज सिविल अफसर और इग्लैण्ड के नागरिक आमन्त्रित थे। इस समारोह के अन्तिम चरण मे जोकि भारतीय राष्ट्रीय एसोसिएशन के वार्षिक दिन के रूप मे मनाया जा रहा था, हर एक व्यक्ति समारोह मे निमग्न था। सगीत का कार्यक्रम समाप्त हुआ ही था कि सर कर्जन अपनी पत्नी के साथ हाल मे आया। मदनलाल ने, जो आधे घण्टे पूर्व हाउस मे आ गए थे, उनको थोड़ी दूर से देखा और उनका अभिवादन कर हल्की-फुल्की बातों मे बहलाते रहे। सर कर्जन उनसे इग्लैण्ड के मौसम और छोटी-मोटी बातें करते रहे।

मदनलाल ने एक अंग्रेजी सूट पहना हुआ था और नीली पगड़ी बाँधे हुए थे। यकायक उन्होंने अपने कोट की अन्दर की जेब से एक बेल्जियम रिवाल्वर निकाला और सर कर्जन के चेहरे पर ५ गोलियां बरसा दो। वाइली मुंह मे बिना एक शब्द भी निकाले ढुलक गए। पृष्ठभूमि मे चल रहा संगीत मृत्यु-गान मे परिवर्तित हो गया। कर्जन का चेहरा इतना विकृत हो गया कि पहचाना नही जा रहा था। एक पारसी डॉक्टर कॉवस लुर्दीजी लालकाका जिन्होंने वाइली को बचाने का प्रयत्न किया, मदनलाल की छठी गोली का शिकार हुए। बाद में

मदनलाल ने न्यायाधीश को बताया, 'मैं केवल यह बात कहना चाहता हूँ कि मैंने लालकाका को जानबूझकर नहीं मारा। वे आगे बढ़े और उन्होंने मुझे पकड़ लिया। तभी मैंने आत्मरक्षा में गोली चला दी।' डॉक्टर लालकाका शंघाई के निवासी थे और छुट्टियाँ मनाने लन्दन आये थे। मदनलाल के पास छुरा भी था जो उन्होंने हवा में घुमाया था।

मदनलाल ने भागने या अपना परिचय छुपाने की कोई चेष्टा नहीं की। इस भाग-दौड़ में उनकी पगड़ी गिर गई। जब सारे लोग अपनी सुरक्षा के लिए भागने लगे तो उन्होंने खड़े होकर गम्भीरता के साथ कहा कि किसी भी व्यक्ति को डरने या भागने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैंने अपना काम पूरा कर लिया है। जब किसी दर्शक ने 'हत्यारे' शब्द से सम्बोधित किया तो उन्होंने उस शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा कि वह एक देशभक्त हैं और अपनी मातृभूमि को विदेशियों के पंजे से छुड़ाने के लिए यह हत्या की है। अत्यन्त संयत स्वरों में एकत्रित भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा, 'मैंने जो कुछ भी किया है उसके लिए मुझे कोई ग्लानि नहीं है। किसी अंग्रेज ने भी यही किया होता यदि इंग्लैण्ड जर्मनी के कब्जे में आ जाता।"

संयोग से सावरकर उस दिन लन्दन में नहीं थे और अपने किसी व्यक्तिगत कार्य से रीडिंग गए हुए थे।

मदनलाल को पकड़ लिया गया और पुलिस के हवाले कर दिया गया। उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया और २ जुलाई, १९०९ को ७ दिन के लिए पुलिस की हिरासत में दे दिया गया। इस दौरान उन्होंने बहुत कम खाया-पीया और वे सोये भी नहीं। अपना अधिकतर समय वे उस बयान की तैयारी में लगाते रहे जिसे वे फाँसी लगने से पहले पढ़ना चाहते थे। वस्तुतः पेन्टोनविलो जेल के अहाते में उन्होंने उसको कई बार पढ़ा और बार बार उसे जोर से पढ़कर दोहराते रहे। जितनी बार भी उसे पढ़ते, उनका चेहरा तमतमा जाता और आँखें चमक उठतीं। वे उसको तब तक पढ़ते रहे जब तक उनके मन की आग शान्त नहीं हो गई और वे इस लायक नहीं हो गए कि उसे संयत स्वर में गम्भीरता से पढ़ सकें। उस घटना के दूसरे दिन २ जुलाई को शिमला के सेण्ट्रल क्रीमिनल इण्टेलिजेंस के डाइरेक्टर के नाम एक तार लन्दन पुलिस के कमिश्नर द्वारा भेजा गया जिसमें धींगड़ा के चरित्र और उनके अन्य कार्यक्रमों के सम्बन्ध में जानकारी माँगी गई थी। तार में लिखा था 'कल रात को ११ बजे मदनलाल धींगड़ा द्वारा, जो गुरदासपुर के सिविल सर्जन का पुत्र बताया जाता है, सर डब्ल्यू० कर्जन वाइली की हत्या कर दी गई है। उसी के साथ एक पारसी सज्जन जिनका नाम कावस लालकाका है, मारे गए हैं। अभियुक्त के सम्बन्ध में जानकारी लौटती डाक से भेजें।' जब तार की प्रति कलकत्ता पहुँची तो उसी

की पुलिस को यह डर हो गया कि धींगड़ा कहीं बंगाली न हो।

५ जुलाई को इण्डिया हाउस में एक बैठक आयोजित की गई, जिसमे धीगड़ा और उनके इस कृत्य की निन्दा की गई। सावरकर ने जब धीगडा के इस देश-भक्ति के लिए किए गए कार्य की प्रशंसा की तो उनको बुरा-भला कहा गया और सभा-भवन से बाहर निकाल दिया गया। सरोजिनी नायडू के भाई वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय ने, जिनके सिर की कीमत कालान्तर मे १० हजार पौंड आंकी गई थी, धीगड़ा के इस क्रान्तिकारी कार्य की सराहना की। 'टाइम्स' लन्दन को लिखे एक पत्र मे उन्होंने कहा 'भविष्य मे फांसी के तख्ते पर चढ़ने वालो की संख्या और अधिक हो जाएगी और इसकी जिम्मेवारी उन लोगों के कंधो पर डाली जाए जो कि भारतीय स्वतन्त्रता की अवहेलना करते हुए यह चाहते हैं कि ब्रिटेन का कब्जा भारत पर बना रहे।' लेकिन उनके पिता ने उन्हें पुत्र ही मानने मे इंकार कर दिया। इतना ही नही, सरकार के प्रति अपनी वफादारी प्रदर्शित करने और शासन के अन्तर्गत तीन दशकों से अधिक की गई अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाओ का इजहार करते हुए लार्ड मिन्टो के निजी सचिव सर डनलप स्मिथ को भेजे गए अपने सदेश में उन्होने लिखा, 'हमारा सारा परिवार अपने इस पागल पुत्र के भयावह और हृदयविदारक कृत्य के लिए अपनी हार्दिक सवेदना प्रकट करता है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अपने पुत्र की मृत्यु से कतई दु.खी नहीं होऊँगा। किन्तु, उन दो बेक़सूर व्यक्तियों की हत्या से अत्यन्त कष्ट महसूस कर रहा हूँ। इस कृत्य से उसने अपने उस परिवार को एक असम्मानजनक स्थिति मे ला दिया है, जो सदैव ही सरकार के प्रति वफादार एवं कृतज्ञ रहा है और सरकार ने भी जिसे बहुत-सी सहूलियतें दी हैं।'

७ जुलाई को मदनलाल के दो बड़े भाइयो—मोहनलाल और बिहारीलाल ने स्मिथ से व्यक्तिगत मुलाकात की और यह लिखित उद्घोषणा की—'हम मदनलाल को शहीद नहीं मानते जैसाकि कुछ लोग कह रहे हैं। हम तो उसे पागल करार देते हैं और उसके कार्य को एक अमानुषिक कार्य मानते हैं।'

धींगड़ा का अत्यन्त उत्साहपूर्ण समय वह था जब उसे ओल्ड बेली की अदालत मे पेश किया गया। १० जुलाई को जब ब्रिटिश न्यायाधीश ने उनसे पूछा कि क्या वे अपने इस कार्य के लिए कोई सफाई देना चाहते हैं तो मदनलाल ने अपनी जेब से एक वक्तव्य निकाला और मजिस्ट्रेट के बार-बार 'चुप कराने' और भीड़ के चिल्लाते रहने के बाद भी जोरदार आवाज मे उसे पढ़ते रहे। वक्तव्य था : 'मैं अपने बचाव में कुछ नही कहना चाहता। लेकिन अपने इस कार्य को न्यायोचित सिद्ध करने के सम्बन्ध मे कुछ अवश्य कहना चाहता हूँ। मैं इसे उचित नहीं मानता कि किसी अंग्रेज अदालत को यह अधिकार है कि मुझे सजा दे या मुझे जेल में रखे या मुझे मृत्यु-दण्ड दे।

'यही कारण है कि मैंने अपने बचाव के लिए कोई वकील नहीं किया है। लेकिन, मैं यह मानता हूँ कि किसी भी अंग्रेज को राष्ट्रभक्त माना जाएगा यदि वह उन जर्मनों के खिलाफ लड़े जोकि उसके देश पर अधिकार करने आये हों। यह बात विशेष रूप से मेरे इस मुकदमे में न्यायोचित है कि मैं भी अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करूँ। मैं अंग्रेजों को अपने देश के ३० करोड़ आदमियों का खूनी मानता हूँ। मेरा आशय ५० वर्षों के उनके काले कारनामों से है। यही नहीं, वे प्रति वर्ष १० करोड़ पौण्ड का धन भारत से अपने देश में ले जाते हैं। मैं उनको अपने देशवासियों को सताने और अनेकों को मृत्युदण्ड देने का जिम्मेवार ठहराता हूँ। वे हमारे देश में जाकर वही करते हैं जो यहाँ रहने वाले अंग्रेज उनको सलाह देते हैं। एक अंग्रेज जो हिन्दुस्तान में १०० पौण्ड प्रति माह पाता है उसकी इस तनख्वाह का सीधा अर्थ यह है कि वह मेरे गरीब देश के एक हजार व्यक्तियों का खाना छीनकर उन्हें मौत के मुँह में ढकेलता है। मेरे एक हजार देशवासी उस १०० पौण्ड से एक माह तक बहुत आराम की जिन्दगी जी सकते हैं जिसे ये अंग्रेज अपने ऐशो-आराम और एय्याशी में खत्म कर देते हैं।

'जिस प्रकार जर्मनों को यह अधिकार नहीं है कि इस देश पर कब्जा करें, उसी प्रकार अंग्रेजों को भी यह अधिकार नहीं है कि वे भारत पर प्रभुत्व जमाए रहें और यह भी पूर्णतः न्यायोचित है कि हमारे पवित्र देश को जो अंग्रेज अपावन करना चाहते हैं उनको मौत के घाट उतारा जाए। जब मैं अंग्रेजों को शोषित मानवता अर्थात् कांगो आदि देशों की जनता के रक्षक होने का दावा करते देखता हूँ तो मुझे हैरत होती है, क्योंकि मुझे मालूम है कि वे मिथ्या शक्ति-प्रदर्शन और प्रचार का घृणित मुखौटा पहने हुए हैं। यही नहीं, हिन्दुस्तान में वे प्रत्येक वर्ष २० लाख आदमियों की हत्या करते हैं और स्त्रियों का अपमान करते हैं और उनका यह बर्बर और नृशंस अत्याचार वहाँ बढ़ता ही जा रहा है। यदि यह देश जर्मनों के कब्जे में आ जाए और कोई अंग्रेज लन्दन की गलियों में विजेता के रूप में घूमते हुए किसी जर्मन को देखकर गुस्से में भर जाए और उनमें से एक-दो का खून कर दे, तो वह अंग्रेज इस देश का बहुत बड़ा देशभक्त माना जाएगा। इसी प्रकार मैं भी एक बहुत बड़ा देशभक्त हूँ कि अपनी मातृभूमि के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर रहा हूँ। इससे अधिक मुझे जो कुछ कहना है वह मेरे उस वक्तव्य में है जो मैं इस अदालत में दे चुका हूँ। मैं यह बयान इसलिए नहीं दे रहा हूँ कि मैं किसी प्रकार की दया की भीख माँग रहा हूँ या ऐसी ही कोई मदद चाहता हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि मुझे यह अंग्रेज अदालत मौत की सजा दे ताकि मेरे देशवासियों में विद्रोह की आग और भी तेजी से भड़क उठे।'

मदनलाल का यह मुकदमा २३ जुलाई को ओल्ड बेली कोर्ट में चलाया गया था। मुकदमे का फैसला २० मिनट से भी कम समय में दे दिया गया और उसे

फाँसी पर चढाने की सजा दी गई। यह भी निर्णय लिया गया कि उसे फाँसी की सजा २५ दिन बाद अर्थात् १७ अगस्त, १६०६ को दी जाए। यह बहुत विचित्र बात थी कि कोई भी अदालत अपराधी की फाँसी की तिथि निश्चित नही करती है। यह पूर्णरूप से प्रशासनिक मामला है। इसी प्रकार की गलती लाहोर स्पेशल ट्रिब्यूनल द्वारा १६३१ मे की गई थी जब भगतसिंह को फाँसी दी गई। मदनलाल का बचाव करने वाला कोई भी नही था और वे भी तमाम कार्यवाई को एक मूक दर्शक की तरह देखते रहे। जब न्यायाधीश ने अपना फैसला पढ़कर सुनाया तो मदनलाल ने ऊँचे स्वर मे कहा 'मुझे अत्यन्त गर्व है कि मैं अपने देश के लिए प्राण उत्सर्ग कर रहा हूँ। लेकिन आप लोग याद रखें कि निकट भविष्य मे ही हम आजादी प्राप्त कर लेंगे।'

१७ अगस्त, १६०६ को फाँसी पर चढ़ने के पूर्व उन्होने अपने वक्तव्य में कहा, 'मेरे देश मे देशभक्त भारतीय युवको को जो यन्त्रणाएँ दी जा रही हैं और जिन बेकसूर लोगों को फाँसी दी जा रही है उनके प्रति यह मेरी एक प्रतिक्रिया मात्र है।' अपने 'चुनौती' शीर्षक लिखित वक्तव्य में उन्होंने कहा, 'मैं विश्वास करता हूँ कि विदेशी संगीनों के साये में पनप रहे राष्ट्र में एक युद्ध के लिए तैयारी हो रही है। चूंकि खुली लडाई असम्भव मालूम होती है और तमाम बन्दूकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, ऐसी स्थिति मे मैं यही कर सकता था कि अपनी पिस्तौल निकालकर गोली दाग दूं। मेरे जैसा गरीब और सामाजिक रूप से अप्रतिष्ठित व्यक्ति यही कर सकता था कि अपनी मातृभूमि के लिए अपना रक्त बहाऊँ और यही मैंने किया है। आज की स्थिति में भारतीय के लिए एक ही सबक है कि वह यह सीखे कि मृत्यु को कैसे वरण किया जाए और यह शिक्षा तभी फलीभूत हो सकती है जबकि हम अपने प्राणो को मातृभूमि पर बलि चढ़ा दें। इसीलिए मैं मर रहा हूँ और मेरे शहीद होने मे देश का मस्तिष्क ऊँचा ही होगा।' विन्स्टन चर्चिल तक ने इन शब्दो को सराहा था और देशभक्ति के इतिहास के सन्दर्भ मे इन शब्दों की सराहना की थी। यहाँ तक कि लार्ड जार्ज तक ने धींगड़ा के इस शहीदाना अन्दाज की दाद दी थी।

आयरिश समाचार-पत्रों ने मदनलाल को बहादुर बताया। इसी प्रकार काहिरा से प्रकाशित होने वाले मिस्र के समाचार-पत्र 'लल्ल पेट्री इजिप्शयने' ने आगामी ४० वर्षो के बीच ब्रिटिश साम्राज्य के पतन की भविष्यवाणी की। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा, 'इस समय देश को बहुत से मदनलालों की जरूरत है।' वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने मदनलाल की स्मृति मे एक मासिक पत्रिका प्रारम्भ की। यह पत्रिका बर्लिन से श्रीमती कामा द्वारा प्रकाशित की जाती थी और इसका नाम 'मदन तलवार' (मदनलाल की तलवार) था। कुछ समय बाद ही यह पत्रिका विदेश मे रहने वाले भारतीय क्रान्तिकारियों की विचारधाराओ का

मुस्लाम बन गई थी। लेकिन भारत में कांग्रेस अध्यक्ष पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने लाहौर में अपने अध्यक्षीय भाषण मे मदनलाल के इस कार्य को 'अशोभनीय अपराध' की संज्ञा दी। लेकिन, भारत की आम जनता ने मदनलाल के इस कार्य को भारतीय इतिहास की अविस्मरणीय घटना मानकर उन्हें शहीद के नाम से विभूषित किया।

१९१६ में प्रकाशित श्री डब्ल्यू० डब्ल्यू० ब्लण्ट ने अपनी पुस्तक में मदनलाल धींगड़ा की बहादुरी की प्रशंसा करते हुए लिखा है, 'धींगड़ा ने जिस बहादुरी के साथ एक न्यायाधीश के सामने अपना ओजस्वी बयान दिया वैसा किसी भी ईसाई शहीद ने न दिया होगा।' संयुक्त राज्य अमरीका में गदर पार्टी की शुरुआत करने वाले लाला हरदयाल के अनुसार, 'धींगड़ा ने मृत्यु का उसी तरह वरण किया जैसे कि पुराने राजपूत वीर और सिख किया करते थे। इंग्लैण्ड सोचता है कि उसने धींगड़ा को मार दिया है लेकिन सच यह है कि वह हमेशा अमर रहेगा और उसने भारत में अंग्रेजों की प्रभुसत्ता को एक करारा तमाचा दिया है।'

मदनलाल की आखिरी इच्छा यह थी—'मैं अपनी मातृभूमि पर पुनर्जन्म लूं और मैं पुनः स्वतन्त्रता समर में मारा जाऊँ और यह क्रम तब तक चलता रहे जब तक कि अपने देश और मानवता की रक्षा के लिए हम उसे स्वतन्त्र नहीं करा लेते।'

धींगड़ा की यह अन्तिम इच्छा कि उनके शरीर को हिन्दू विधि से जलाया जाए, नामंजूर कर दी गई। इस भारतीय शहीद के शरीर को दफनाने का निश्चय किया गया क्योंकि भारत सरकार के गृह विभाग को जो पत्र लिखा था उसका तार द्वारा उत्तर यह आया कि 'हम यह नहीं चाहते कि इस शहीद के अवशेष भारत में पार्सल द्वारा भेजे जाएँ।' सावरकर का यह आग्रह कि उनका शरीर अन्तिम संस्कार के लिए उन्हें सौंपा जाए, नामंजूर कर दिया गया। मदनलाल धींगड़ा का शरीर पेन्टोनविली कब्रिस्तान में दफना दिया गया। जेल के बाहर उस समय बड़ी संख्या में लोग उपस्थित थे जिनमें बहुत से विद्यार्थी भी थे। किन्तु किसी को भी अन्दर आने की अनुमति नहीं दी गई।

तभी से यह मांग लगातार होती रही है कि मदनलाल के अवशेषों को भारत में लाया जाए। १९७३ में जब भारत सरकार ने ब्रिटेन के अधिकारियों से कब्र खोदने की मांग की तो वहां के गृह विभाग ने यह उत्तर दिया, 'उनकी कब्र पर कोई आलेख नहीं लगाया गया है। उनका नाम भी पत्थर पर नहीं खोदा गया था, केवल एक संख्या दी गई थी।' इस सम्बन्ध में भी सूचनाएँ एकत्रित की गईं कि क्या किसी भारतीय अथवा किसी भारतीय संस्था ने लन्दन में इस शहीद की स्मृति में कोई समाधि बनाई है।

शहीद ऊधमसिंह जिन्होंने ओ'डायर को मारा था के अवशेषों को खोदते समय मदनलाल धींगड़ा की कब्र का पता चला। उनके अवशेषों को भारतीय हाई कमिश्नर की उपस्थिति में निकाला गया और १३ दिसम्बर, १९७६ को उन्हें भारत लाया गया। दिल्ली में अवशेषों का स्वागत पालम हवाई अड्डे पर पंजाब और दिल्ली के नागरिकों ने किया। जब अस्थि-कलश अपनी मातृभूमि पर पहुँचा तो लोगों के मुँह से निकल पड़ा—'इन्कलाब जिन्दाबाद'।

मदनलाल धींगड़ा के निर्भीक बलिदान ने भारत और विदेश में चल रहे क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रेरणा दी। शीघ्र ही करतारसिंह सराबा उनके अगुआ बनकर आगे आये। उनके साथ ही रासबिहारी बोस ने उत्तर भारत में जागृति पैदा करने मे बहुत योगदान दिया। भारत का युवा वर्ग एक क्रान्ति की लहर से भर गया और भगतसिंह और उनके साथियों ने एक नये प्रकार की लहर देश में पैदा की। इतिहासज्ञों का कहना है कि मदनलाल इस बात के प्रतीक बन गए कि अंग्रेजों को यह सोचने पर बाध्य कर दें कि भारत में उनकी गतिविधियों को अब अधिक सहन नहीं किया जाएगा। मदनलाल धींगड़ा ने यह भी संदेश दिया कि क्रान्तिकारी तरीकों से ही अंग्रेजों को भारत से भगाया जा सकता है। खुदीराम बोस ने उनके पहले और सरदार भगतसिंह ने उनके बाद उसी तरह मुस्कराते हुए फाँसी के फन्दे को चूमा था। मदनलाल धींगड़ा का नाम भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की शृङ्खला में हमेशा ही पहली पंक्ति में आता रहेगा।

जलियांवाला बाग
(13 अप्रैल, 1919)

13 अप्रैल, 1919 अर्थात् हिन्दुओं के नये साल के दिन अमृतसर में भारतीय इतिहास ने एक नया मोड़ लिया। इस दिन भगतसिंह मात्र 11 वर्ष 7 महीने और 19 दिन का था।

पंजाब के गैजेट्टीयर के अभिलेख से पता चलता है: पंजाब के तीर्थ अमृतसर के जलियांवाला बाग का मैदान उन दो हजार निश्छल हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों के मिले-जुले रक्त से भर गया था जिन्हें 13 अप्रैल, 1919 को ब्रिटिश गोलियों ने भून दिया था।

49 वर्षीय गांधीजी तब दक्षिण अफ्रीका से लौटे ही थे और भारतीय राजनीतिक परिदृश्य से एकदम अपरिचित थे। उन्होंने सत्याग्रह आरम्भ करने की घोषणा कर दी। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव असेम्बली के वसन्त अधिवेशन में दो रोलट बिल पास किए जा चुके थे।

अमृतसर के जिलाधीश ने डॉ० सैफुद्दीन किचलू तथा डॉ० सत्यपाल को बुलाकर गिरफ्तार करके अनजाने स्थान पर भेज दिया था। सभाएँ हुईं, जुलूस और जत्थे निकाले गए। पुलिस की गोली से दो व्यक्ति मारे गए और अनेक घायल हुए। नगर में तनाव इतना अधिक था कि पूरा शहर सेना को सौंप दिया गया था।

जलियांवाला बाग के गोलीकांड में, कुल मिलाकर 1650 गोलियाँ चलायी गयी। जनरल डायर की यह गर्वोक्ति कि एक भी गोली व्यर्थ नहीं गयी, मृतकों की संख्या से सत्य सिद्ध हो जाती है। पंजाब डिसार्डर्स इन्क्वायरी कमेटी के इन्क्वायरी कमिश्नर न्यायमूर्ति श्री रैन्किन के यह पूछने पर कि क्या तुमने घायलों की देखभाल के लिए कोई कदम उठाए, अत्याचार के 'नायक' ने उत्तर दिया: 'नहीं, कदापि नहीं। यह मेरा काम नहीं था। अस्पताल खुले थे और वे वहाँ जा सकते थे।'

भारत में जन्मे अंग्रेज सेना अधिकारी ब्रिगेडियर जनरल रेजिनाल्ड ई० एच० डायर ने अपनी डायरी में लिखा था : 'मैं सोचता हूँ मैं बहुत अच्छा काम करता हूँ।' हण्टर कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार, 'जलियांवाला बाग जमीन का ऐसा *आयताकार टुकड़ा है, जिसका प्रयोग नहीं किया जाता और उसके कुछ भाग में* भवन-निर्माण का सामान और मलवा पड़ा है। यह लगभग पूरा मैदान चारों ओर से दीवारों और भवनों से घिरा हुआ है। इसमें आने-जाने के रास्ते बहुत कम और ऊबड़-खाबड़ हैं। जिस रास्ते से जनरल डायर अन्दर गए, उसके दोनों ओर की जमीन ऊँची है। बाग के दूसरे सिरे पर बहुत बड़ी भीड़ थी जिसे ऊँचे मंच पर खड़ा एक आदमी सम्बोधित कर रहा था। यह मंच उस जगह से कोई १५० गज दूर था, जहाँ जनरल डायर ने अपने सैनिकों को रोका हुआ था। इन सैनिकों में २५ नेपाली गुरखा और २५ बलूचिस्तान के बलूच सिपाही राइफलों से लैस थे, ४० गुरखाओं के पास खुकरियाँ और २ हथियारबन्द गाड़ियाँ थीं।'

यह हिन्दुओं और सिखों के लिए पवित्र दिन था, पंजाबी ईसाइयों सहित सभी मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के लिए यह धर्म-निरपेक्ष पर्व का दिन था। वैसाखी के इस दिन पगड़ियाँ बांधे सिख और हिन्दू, तहमद बाँधे मुस्लिम हजारों की संख्या में अपनी अच्छी फसल के उपलक्ष्य में गाने-नाचने के लिए अमृतसर में इकट्ठे हुए थे। हमेशा की तरह उस साल भी शहर के बाहरी हिस्से में मेला लगना था, लेकिन वातावरण क्रान्तिकारियों की गतिविधियों से गरमाया हुआ था। गाँवों से जाने वाले लोगों ने देखा कि अमृतसर बदला हुआ और फीका-फीका-सा है। वास्तव में सारा शहर गांधीजी, डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल की गिरफ्तारियों के कारण क्रोधित था।

यह बाग वास्तव में कोई बाग नहीं है, बल्कि एक मैदान है, जिसमें न पेड़ हैं और न ही पानी। यहाँ घास तो उगती है, पर पक्षी नहीं चहचहाते। वहाँ लगभग २०,००० लोग थे और वक्ता थे हंसराज, जो उत्सुक लोगों को उन गिरफ्तारियों के सम्भावित परिणामों के विषय में बतला रहे थे। जब हंसराज भाषण दे रहे थे, तब जलियांवाला बाजार की ओर से एक संकरी गली से सैनिकों की दो कतारें वहाँ आ पहुँचीं। उनके साथ अंग्रेज सैनिक भी थे। सैनिक घुटनों के बल बैठ गए और अपनी राइफलें भीड़ की ओर तान दीं। पलक झपकते ही गोलियाँ चलीं, शोर मचा और भगदड़ मच गयी। हंसराज मंच पर से चिल्लाए: 'शान्त रहो, ये लोग खाली कारतूस चला रहे हैं।' जब जनरल डायर ने यह सुना, तो वह उतनी ही जोर से चिल्लाया : 'उनको गोली मारो, गोली इधर में क्यों चला रहे हो?' उस समय शाम के लगभग साढ़े पाँच बजे थे। आसमान साफ था। पंजाब के खेतों में फसल बहुत अच्छी हुई थी और हवा में सन्तरा और सरसों की खुशबू फैली थी। गोलियाँ यद्यपि लगभग दस मिनट तक ही चलीं,

उनकी गूँजें आसपास घण्टों के बाद भी सुनी जा सकती थीं। सभी प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि गोलियों का लक्ष्य वे रास्ते थे जहाँ से लोग निकलने के लिए भाग रहे थे। एक वृद्ध जो अपने भतीजे को ढूँढ़ने के लिए बाग में आया था, उसने कहा था : 'बाग में पहुँचने पर मैंने गोलियों से छलनी हुए भतीजे की लाश पायी, उसका सिर फट गया था। एक गोली नाक के नीचे ऊपर वाले होंठ पर लगी थी, दो बायीं ओर, एक गर्दन पर बायीं ओर और तीन जाँघों पर तथा दो या तीन सिर में।'

मिनटों में जलियांवाला बाग खून से नहा उठा। चारों ओर लाशें पड़ी थीं। कुछ लाशें नालियों में से मिलीं। खून नाले के रूप में बह रहा था। जल्दी ही पूरा शहर अन्धकार से ढक गया, जैसे किसी ने पुराना कम्बल उढ़ा दिया हो। उस शाम विधवा हुई रतनदेवी के अनुसार लाशों को देखकर रोंगटे खड़े हो गए थे। सारा दृश्य यन्त्रणादायक था। उस वीर महिला ने अपने पति की लाश को ढूँढ़ने में वहाँ घण्टों बिताए, निर्जन जंगल में, जहाँ से वह अंग्रेजों की आँखों से बचाकर अपने पति की लाश को घसीट ले गयी थी। उसने पूरी रात रोते-कलपते और पति को अन्तिम संस्कार के लिए घर ले जाने के लिए चारपाई की प्रतीक्षा में काट दी। 'मेरे लिए उस सबका वर्णन करना असम्भव है, जो मैंने अनुभव किया। वहाँ लाशों के ढेर पड़े हुए थे, कुछ छाती के बल और कुछ पीठ के बल गिरे पड़े थे। उनमें से अनेक गरीब निर्दोष बच्चे थे। मैं उस निर्जन जंगल में पूरी रात अकेली रही। कुत्तों के भौंकने और गधों के रेंकने के सिवा कुछ सुनाई नहीं पड़ता था। सैकड़ों लाशों के बीच मैंने सारी रात रोते और देखते काटी। क्योंकि सारा बाग रक्त से भरा था, सूखे स्थान के लिए मारा-मारी थी।'

नरसंहार के नायक ने हण्टर कमीशन को बताया था : 'मैं जैसे ही वहाँ अपनी कार से आया, मैं निश्चय कर चुका था कि मैं सब लोगों को जान से मार दूँगा।' इन्क्वायरी से यह भी पता चला कि उसने भीड़ को वहाँ से चले जाने की चेतावनी देना भी आवश्यक नहीं समझा और न ही उसने उपायुक्त से बात करना आवश्यक समझा; उपायुक्त वहाँ उपस्थित था भी नहीं। जनरल डायर ने अपने बयान को समाप्त करते हुए कहा कि, "मैं जलियांवाला बाग गोलीबारी को अपना कर्तव्य समझता था...एक भयानक कर्तव्य।'...मैं उन्हें ऐसा पाठ पढ़ाना चाहता ताकि वे मुझपर हँस न सकें। मैं और ज्यादा देर तक गोलियाँ चलाता रहता, अगर मेरे पास आवश्यक संख्या में वे होतीं। मैं अपने साथ हथियारबन्द गाड़ी ले गया था, लेकिन मैंने देखा कि उस रास्ते से वे जा नहीं सकतीं, इसलिए उन्हें मैंने पीछे छोड़ दिया। मुझे लगा कि मुझे अच्छी तरह और तेजी से गोलियाँ चलानी चाहिए ताकि मुझे या किसी और को फिर गोली न चलानी पड़े।" एक तार में भेजे गए सन्देश में डायर के इस कार्य को सर माइकल ओ'डायर ने सहमति दे दी :

तुम्हारा व्यवहार उचित था। लैफ्टिनेंट गवर्नर सहमति देते हैं।' इस हत्याकाण्ड का समाचार जब कलकत्ता पहुँचा, तो सुभाषचन्द्र बोस ने हाथ में पिस्तौल लेकर एक सभा में अंग्रेजों को बल-प्रयोग से देश से निकालने की प्रतिज्ञा की।

भीड़ में अमृतसर के पास के गाँव का एक हलवाई भी था, जो वहाँ मिठाई बेचने और मेला देखने आया था। जब उसने सुना कि बाग में जलसा है, तो उसने मेले में दुकान लगाने से पहले वहाँ जाने का निर्णय किया। उसके सम्बन्धियों के अनुसार मेवासिंह का शरीर गोलियों और गोलियों के निशानों से भरा हुआ था। उसके सिर से खून ऐसे बह रहा था जैसे फव्वारा। स्थानीय कॉलेज के बीसियों विद्यार्थी मारे गए। अमृतसर के निवासियों के लिए उनकी स्मृति में यह सबसे काली वैसाखी थी। पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित प्रबन्ध 'जलियांवाला बाग के शहीद' के लेखक डा० राजाराम के अनुसार, 'यह विशाल नर-संहार पूर्वनियोजित और अच्छी तरह सोच-समझकर किया गया था।' पुस्तक में उस हतभाग्या बैसाखी के दिन मरने वालों के नामों का विस्तार से सन्दर्भ दिया गया है। प्रमुख शहीदों के जीवन-चरित्र भी दिए गए हैं। इनका आधार वे सरकारी फाइलें और अभिलेख हैं, जो अब तक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अनुपलब्ध हैं। 'गदर' और 'आन्तरिक शासन' आन्दोलनों के बाद अमृतसर हत्याकाण्ड ब्रिटिश कफन में एक और कील था। लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर माइकल ओ'डायर का वक्तव्य हास्यास्पद मात्र था कि 'गोलीबारी नैतिक प्रभाव डालने के लिए थी, हालांकि यह सैन्य-दृष्टिकोण से चलायी गयी थी।'

अन्य सभी अभिलेख एवं तत्कालीन प्रमाण इस बात से एकमत हैं कि अमृतसर का नर-संहार मानव-इतिहास में अभूतपूर्व था। इससे पंजाब में खुला विद्रोह हुआ और पूरे देश में क्रोध की लहर फैल गयी। मोतीलाल नेहरू ने राष्ट्र का आह्वान किया कि वे पंजाब के जख्मी हृदय की आवाज सुनकर प्रतिक्रिया व्यक्त करें। सरकार में भी प्रतिक्रिया हुई। पूरे राज्य में सैनिक अदालतों का गठन किया गया। इन अदालतों ने ८५२ व्यक्तियों पर मुकदमे चलाए जिनमें से ५४२ को सजा दी गयी। सौ लोगों को फांसी दी गयी। प्रत्येक पंजाबी सिपाही बन गया और प्रत्येक घर किला। गुप्त सभाओं का गठन किया गया, हर जगह स्वतन्त्रता और 'इन्कलाब' की बात सुनाई देती थी। दमन जितना बढ़ता जाता था, आन्दोलन भी उतना ही तीव्र होता जाता था।

जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड को सार्वभौमिक रूप से पंजाब के निहत्थे किसानों के प्रति ब्रिटिश सरकार का सर्वाधिक घृणित अपराध माना गया। हत्याकाण्ड के पश्चात् मार्शल लॉ लागू कर दिया गया और पंचनद प्रदेश में आतंक का साम्राज्य स्थापित कर दिया गया। लाहौर पर हवाई जहाजों से विद्रोहियों पर बम और मशीनगनों से गोलियां बरसायी गयीं।

गुजरांवाला, लाहौर और अमृतसर जिलों मे मार्शल लॉ लागू करके कोड़े लगाने की एक नये प्रकार की विधि लागू की गयी। 'रोल ऑफ-ऑनर' (सम्मान सूची) में के० सी० घोष कहते हैं : 'हजारों विद्यार्थियों को हाजिरी देने के लिए रोज १६ मील चलने पर विवश किया गया। सैकड़ों की संख्या मे विद्यार्थियों और प्रोफेसरो को गिरफ्तार कर लिया गया। पांच और सात वर्ष की आयु के स्कूली बच्चों को भी परेड मे जाने और ब्रिटिश झण्डे को सलामी देने को विवश किया गया। भवनों के मालिकों को मार्शल लॉ सम्बन्धित इश्तिहारो की सुरक्षा करने की आज्ञा दे दी गयी। मार्शल लॉ के नियमो से अनभिज्ञ एक पूरी बारात को सरेआम कोड़ो से पीटा गया। लाहौर के इस्लामिया स्कूल के छः लड़कों को इसलिए कोड़े लगाए गए कि वे कद-काठी मे बड़े थे, कहीं किसी और नियम का उल्लेख नही किया गया। लोगो को अपमानित करने के लिए खुले पिंजरे बनवाए गए और उन्हें सार्वजनिक स्थानों पर रख दिया गया। इनमे गिरफ्तार व्यक्तियो को, जिनमें अनेक सम्मानिक व्यक्ति भी होते थे, हिंस्र पशुओं की भांति बन्द कर दिया जाता था। दण्ड के नये-नये तरीके जैसे घसीटना, उछालना तथा अनेक ऐसे तरीके जो न पुलिस-नियमों मे थे, और न सेना के नियमों में और जो न ही इससे पहले सोचे या कल्पित किए गए थे, अपराधी और निर्दोष दोनों पर समान रूप से लागू किए जाते थे। लोगों को हथकड़ियां लगाकर एक साथ बांध दिया जाता था। हिन्दुओं और मुसलमानों को जोड़ों में बांध दिया जाता था ताकि उनकी एकता के परिणाम को प्रदर्शित किया जा सके। इससे पूरे देश के मानस को धक्का पहुँचा। जनता के क्रोध को रवीन्द्रनाथ टैगोर के उस अविस्मरणीय पत्र से ध्वनि मिली जो उन्होंने जलियांवाला बाग में निर्दोषों के हत्याकाण्ड के विरोध मे अपनी नाइटहुड का त्याग करते हुए वाइसराय को लिखा था। आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की भी मीटिंग २०-२१ अप्रैल, १९१९ को अमृतसर मे हुई। वार्षिक अधिवेशन भी अमृतसर में हुआ। गुजरावाला मे स्थिति गम्भीर हो गयी। १४ अप्रैल, १९१९ को रेलवे स्टेशन जला डाला गया। रेल पुल भी जला दिया गया। मुख्य डाकघर को आग लगा दी गयी। मुन्सिफ की अदालत को धूल में मिला दिया गया। तारघर, डाक-बंगला, कचहरी और एक मिशनरी स्कूल को भी आग लगा दी गयी। कसूर और वजीराबाद में भी इसी तरह की घटनाएँ हुईं। लाहौर मे विद्रोहियों और पुलिस के बीच गोलीबारी की घटनाएँ हुईं। कलकत्ता क्रोध की ज्वालाओं मे दहकने लगा। अमृतसर में पटरी पर दो से अधिक व्यक्तियो के एक साथ चलने की मनाही कर दी गयी। 'लगर' बन्द कर दिए गए। नागरिकों के घरों से बिजली के पंखे अंग्रेज सैनिकों के प्रयोग के लिए उठा लिये गए। किसी भी व्यक्ति को सन्देह के आधार पर पेट के बल चलने को विवश किया जाता। कोड़े लगाना आम बात की सीमा से भी बढ़

गया। पूरी रात कर्फ्यू लगा रहता, जो दिन में केवल कुछ घण्टों के लिए हटाया जाता। सब तांगेवालों को तांगे नगर से बाहर एक स्थान पर एकत्र कर देने की आज्ञा दे दी गयी। लाहौर के अनेक कालेजों के विद्यार्थियों को अपने-अपने कालेजों से १६-१६ मील दूर एक मास तक प्रतिदिन हाजिरी देने को कहा गया। जब एक कालेज के नोटिस बोर्ड पर लगी मार्शल ला सूचना को फटा पाया गया तो कॉलेज के सारे स्टाफ और प्रिंसिपल को गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें हथकड़ियाँ लगाकर मिलिट्री के पहरे में किले में ले जाया गया और उन्हें वहाँ बन्द कर दिया गया। उन्हें नंगे फर्श पर सोने को बाध्य किया गया तथा उन्हें न पानी दिया गया न खाना। एक गाँव के मुखिया को सरेआम कोड़े लगाए गए, फिर उसे पेड़ से बाँधकर उसके चारों ओर पिंजरा बना दिया गया। सरसरी कोर्ट और विशेष अदालतों का गठन रोज-मर्रा की बात थी। कर्नल जॉनसन अमृतसर में मार्शल ला प्रशासन में विशेषता प्राप्त कर रहे थे, तो कर्नल ओ ब्रायन गुजरांवाला में, कैप्टेन डोवटोन कसूर में और बोरवर्थ स्मिथ शेखूपुरा में तैनात थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता का परिहास करने के लिए ये मार्शल ला प्रशासक उन्हें एक साथ जंजीरों से जकड़ कर एक ही पिंजरे में बन्द कर देते थे। यहाँ तक कि बारातों और शव-यात्राओं में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों पर भी कोड़े बरसाए जाते थे। नग्न लोगों का जुलूस निकालना आम बात थी। यहाँ तक कि वेश्याओं को भी कोड़े लगते हुए दिखाने के लिए लाया जाता। पूरे के पूरे नगर पर दण्डस्वरूप जुर्माने लगाए जाते थे।

आतंक का साम्राज्य स्थापित कर दिया गया और वैसे ही क्रोध की लहर भी जंगल की आग की तरह फैलने लगी। ऊधमसिंह, जिसने २१ वर्ष बाद कैक्स्टन, इंग्लैण्ड में एक आम सभा में सर माइकल ओ'डायर की हत्या करके जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड का प्रतिशोध लिया था, उस समय केवल १६ वर्ष का था। मृतकों में उसने ४१ लड़कों और एक सात सप्ताह के बच्चे को भी देखा था।

हत्याकाण्ड का समाचार सुनकर भगतसिंह स्कूल नहीं गया। उसने अमृतसर के लिए गाड़ी पकड़ी और घटना-स्थल पर पहुँचा। वहाँ वह कुछ मिनटों तक समाधिस्थ खड़ा रहा, फिर जमीन से मिट्टी उठायी, माथे से लगाई और कुछ शीशी में रख ली। लौटते समय जब कण्डक्टर ने उससे टिकट दिखाने को कहा, तो शीशी पर उसकी मुट्ठी कस गई। जब वह शाम को घर पहुँचा, तो उसकी बहन ने उसे खाना और अपने हिस्से के आम खा लेने को कहा। भगतसिंह ने, जिसे आम सबसे ज्यादा अच्छे लगते थे, उस रात उपवास किया। जब उसकी बहन ने उससे खाना न खाने का कारण पूछा तो उसने बहन को एक ओर ले जा कर रक्तरंजित पवित्र मिट्टी दिखाई। उसके परिवार के सदस्यों के अनुसार वह हर सुबह उस पवित्र मिट्टी पर ताजे फूल चढ़ाता और बाग की उस मिट्टी पर

नया जीवन अर्पित करता, घायल बाग से नयी प्रेरणा लेता। एक दिन सुबह-सुबह वह रावी नदी के किनारे गया और प्रतिज्ञा की कि वह उसके पानी को अपने रक्त से रँगेगा, जो पंजाब की पाँचों नदियों से मिलकर स्वतन्त्रता की बाढ़ बन जायेगा।

जनरल डायर ने पंजाब के गवर्नर के आगे गर्वोक्ति की थी कि उसने उसके लिए पंजाब बचा दिया है। परन्तु इतिहास फिसलन भरा मैदान है, वह सदा ही किसी को उपकृत नहीं करता। आगामी घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि उसने भले ही पंजाब को अपने से बड़े अफसर के लिए बचा लिया हो, लेकिन दूर बैठे स्वामियों और देशवासियों के हाथों से भारत को छिनवा दिया। भीतर तक झकझोर देने वाली एक कविता में सरोजिनी नायडू ने भारत से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त की भविष्यवाणी की।

गांधीजी के लिए जलियांवाला बाग सरकार के पागलपन का इजहार था जिसमें सम्पादकों और संवाददाताओं को भी नहीं छोड़ा गया था। 'द बाम्बे क्रानिकल' के सम्पादक बी० जी० हॉर्नीमैन को इसलिए निष्कासित कर दिया गया कि उसने सरकारी कार्यवाही की निन्दा की थी। इस अनन्त शून्य को वाणी देने के लिए गांधी को 'यंग इण्डिया' का सम्पादक बनाया गया। 'द ट्रिब्यून' लाहौर के सम्पादक बाबू कालीनाथ को गिरफ्तार कर लिया गया। २१ जुलाई, १९१९ को गांधी ने असहयोग आन्दोलन की समाप्ति की घोषणा करते हुए एक प्रेस विज्ञप्ति दी। उन्होंने पंजाब की घटनाओं के लिए जाँच आयोग गठित करने की माँग की। 'मुझ पर जलती तीली फेंकने का आरोप लगाया गया है।' उन्होंने लिखा, 'यदि मेरा समय-समय पर किया गया असहयोग जलती तीली है, तो रोलेट विधान और उसे लागू रखने की जिद पूरे भारत में बिखरी हजारों तीलियाँ हैं।' अपने ऊपर से निषेधाज्ञा हटने पर गांधी ने १७ अक्तूबर, १९१९ को पंजाब में प्रवेश किया। मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू पहले से वहाँ थे। पुरुषोत्तमदास टंडन और सी० एफ० एण्ड्रयूज भी उनसे आ मिले। इसी समय अप्रैल की घटनाओं की जाँच के लिए नियुक्त हण्टर आयोग के गठन की घोषणा हुई।

दिसम्बर, १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यह प्रस्ताव पारित किया गया कि जलियांवाला बाग में शहीदों की स्मृति में एक स्मारक बनाया जाए। यह बाग भी देश के लिए ले लिया गया। दमन की खोजबीन करने के लिए जिस विशेष समिति का गठन किया गया था, उसने कहा कि 'हण्टर आयोग के समक्ष जनरल डायर के बयानों से यह निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि १३ अप्रैल की कार्यवाही निर्दोष, अनाक्रामक, शस्त्रहीन व्यक्तियों और बच्चों के नृशंस, सुनियोजित नर-संहार के अतिरिक्त कुछ नहीं था जो आधुनिक काल में अपनी हृदयहीनता और कायरतापूर्ण बर्बरता की दृष्टि से अभूतपूर्व है।'

अमृतसर कांग्रेस ने तृतीय श्रेणी के रेल यात्रियों के कष्टों से लेकर साई

चेम्सफोर्ड को वापिस बुलाने तक के अनेक विषयों पर ५० प्रस्ताव पारित किए। लगभग ५०,००० व्यक्तियों की उपस्थिति में एक सत्र में गांधी एक अस्वीकृत नेता के रूप में उभरे जब भीड़ के पागलपन की भर्त्सना सम्बन्धी एक प्रस्ताव पर उन्होंने कहा : 'इस प्रस्ताव से बड़ा कोई प्रस्ताव कांग्रेस के सामने नहीं है। भविष्य में आपकी समस्त सफलता की कुंजी इसमें छिपे सत्य की आपके द्वारा हार्दिक स्वीकृति और उसका अनुगमन करने में निहित है। मैं इस बात से सहमत हूँ कि डा० किचलू और डा० सत्यपाल को गिरफ्तार करके तथा मुझे गिरफ्तार करके, सरकार ने उत्तेजना फैलाई है—ये घटनाएँ न घटतीं, लेकिन सरकार उस समय पागल हो गई थी, उस समय हम भी पागल हो गए थे। मैं कहता हूँ, पागलपन का प्रतिकार पागलपन से मत करो, अपितु पागलपन का प्रतिकार बुद्धिमत्ता से करो और सारी स्थिति तुम्हारे हक में हो जाएगी।'

२८ मई, १९२० को हुण्टर आयोग की रिपोर्ट छप गई। ३० मई को बनारस में आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और उसमें रिपोर्ट के निष्कर्षों के प्रति सम्पूर्ण देश का क्रोध प्रदर्शित किया गया। इसमें जनरल डायर और सर माइकल ओ'डायर की कार्रवाइयों को दोषयुक्त करार दिया गया था। यद्यपि जनरल डायर को पदमुक्त कर दिया गया था और उसे सम्भवतः अपनी पेंशन से भी हाथ धोना पड़ा था किन्तु भारत में रह रहे अंग्रेज समुदाय ने २०,००० पाउण्ड एकत्रित करके सार्वजनिक रूप से उसे भेंट किए थे। अंग्रेज महिलाओं ने उसे एक अजनबी देश में उनका मान बचाने के पुरस्कार-स्वरूप एक तलवार भेंट की। लन्दन में सार्वजनिक स्वागत समारोह का आयोजन किया गया जिसमें उसे हीरो बना दिया गया। जब इंग्लैण्ड में यह सब हो रहा था, उसी समय किंग जॉर्ज के चाचा कनॉट के ड्यूक को भारतीय दिलों के दुःखों को सहलाने के लिए भारत भेजा गया। दिल्ली में कनाट प्लेस के उद्घाटन के समय एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए ड्यूक ने कहा था : मैं जीवन के उस बिन्दु पर आ पहुँचा हूँ जहाँ से मैं जख्मों को भरने और उन लोगों को पुनः इकट्ठा करने की सबसे अधिक इच्छा रखता हूँ, जो बिछुड़ गए हैं। भारत के एक पुराने मित्र के नाते मैं आज···भारतीयों और अंग्रेजों सबसे प्रार्थना करता हूँ कि मरे हुए अतीत को दफना दें और पिछली गलतियों और गलतफहमियों को, जहाँ क्षमा करना चाहिए क्षमा कर दें और आज से आशाओं को पूर्ण करने के लिए मिलकर काम शुरू कर दें।' कालान्तर में जब पंजाब की दुर्घटना को सुप्रीम काउंसिल में एक प्रस्ताव के अन्तर्गत उठाया गया तो सरकार की ओर से बहस प्रारम्भ करने वाले सदस्य सर विलियम विन्सेंट ने जलियांवाला बाग में निर्दोष लोगों पर हुए अत्याचारों पर गहरा दुःख प्रकट किया परन्तु कठोर दण्ड की धारा को प्रस्ताव से वापिस कराने में वे सफल हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि न ड्यूक आफ कनाट

की प्रार्थना और न गृह सदस्य, सर विलियम विन्सेंट द्वारा प्रकट खेद से स्थिति में कोई परिवर्तन आ सका, वह पहले की भाँति ही तनावपूर्ण बनी रही।

परिणामत: जब ब्रिटिश पार्लियामेंट में सुधार बिल (रिफार्म बिल) प्रस्तुत हुआ तो उस समय इंडियन नेशनल कांग्रेस की ब्रिटिश समिति ने इंग्लैण्ड में यह घोषणा-पत्र पारित किया : 'अब समय आ गया है कि भारत के विषय में ब्रिटेन की जनता का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाए क्योंकि सरकार की मूर्खता के कारण बदली ऐसे तूफान का रूप धारण करने लगी है, जिसकी विकरालता का अनुमान कोई नहीं लगा सकता।'

३१ जुलाई, १९२० की मध्य रात्रि को ब्रिटिश व्यवहार के प्रति पूर्ण असन्तोष और भारतीयों को प्रसन्न करने के तथाकथित प्रयत्नों से पूर्ण असहमति प्रकट करने के पश्चात् लोकमान्य तिलक की मृत्यु हो गई। इस मोड़ पर आकर गांधीजी को, जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए स्वामिभक्ति से भरी सेवाएँ अर्पित की थी, नरमपंथी बने रहना कठिन लगने लगा। उन्होंने अपना स्वर्ण पदक 'कैसर-ए-हिन्द' और जुलु युद्ध पदक लौटा दिया। २ अगस्त, १९२० के एक पत्र में गांधीजी ने वाइसराय को लिखा, 'महा-महिम द्वारा सरकारी अपराध के प्रति अपनाए गए हल्के-फुल्के रुख, आपके द्वारा सर माइकल ओ'डायर और श्री माण्टेग्यू द्वारा भेजे गए समाचारों को क्षमादान, और इनसे भी अधिक पंजाब की घटनाओं को लेकर आपकी शर्मनाक अनभिज्ञता तथा हाउस आफ लार्ड्स के द्वारा भावनाओं की हृदयहीन अवहेलना ने मुझे साम्राज्य के मन्तव्य को लेकर बड़ी आशंकाओं से भर दिया है, और वर्तमान सरकार से मुझे पूर्ण विमुख कर दिया है तथा मुझे सच्चा सहयोग देने में असमर्थ बना दिया है, जैसाकि मैंने अब से पहले दिया है।'

जलियांवाला बाग की त्रासदी में एक और कथा को संक्षेप में कहना अनिवार्य होगा। कहा जाता है कि जब जनरल डायर हण्टर आयोग के समक्ष १९ नवम्बर, १९१९ को अपना बयान दे रहा था कि उसने गोली चलाते समय अधिक ब्रिटिश गोलियां व्यर्थ नहीं की, तो एक २१ वर्षीय पंजाबी किसान बन्द दरवाजों और पर्दों के बाहर खड़ा सब कुछ सुन रहा था। यह सुनने पर उसका खून खौलने लगा और उसने प्रतिज्ञा की कि वह निर्दोषों के संहार का प्रतिशोध लेगा, कि वह भी अच्छी तरह गोली मारेगा और कोई ब्रिटिश गोली बेकार नहीं जाने देगा। परन्तु उचित अवसर की प्रतीक्षा में उसे २१ वर्ष और व्यतीत करने पड़े, जिसमें से सात वर्ष उसने लन्दन में बिताए—पहले इंजीनियरी के विद्यार्थी के रूप में और फिर एक इंजीनियर के रूप में। १३ मार्च, १९४० को ४२ वर्ष की अवस्था में जब उस आदमी को अवसर मिला, तो उसने केवल एक गोली का प्रयोग किया और हजारों लोगों के हत्यारे को चीखने तक का अवसर दिए बिना मार गिराया।

इस व्यक्ति के पास जो हथियार बरामद हुआ था, वह २१ वर्ष पुराना था। बन्दूक अमरीकी थी, गोली ब्रिटिश। उसके पास एक चाकू भी था किन्तु उसने उसका प्रयोग नहीं किया। उसकी डायरी में वह तारीख और यहाँ तक कि वह दिन भी अंकित था, जब से वह अपने शिकार की प्रतीक्षा कर रहा था। और अब जब कि उसने कैक्स्टन हाल के ट्यूडर कक्ष मे अपना प्रतिशोध ले लिया था, तो वह स्वयं को सब बेड़ियों से मुक्त अनुभव कर रहा था। इसलिए उसने पुलिस के समक्ष समर्पण कर दिया। इस व्यक्ति का नाम था ऊधमसिंह!

जब सर माइकल ओ'डायर का शव वहाँ से हटाया जा रहा था तो ऊधमसिंह ने कहा कि अपने शिकार से उसका कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था, यह संयोग था कि जलियावाला बाग हत्याकाण्ड के समय वह पंजाब का गवर्नर था। 'मेरा विरोध केवल उस व्यवस्था से है, जिसका वह प्रतिनिधि था। उस व्यवस्था मे मरने से मुझे इनकार नहीं है जिसके अन्तर्गत लाखो लोग भूखे मरते हैं। अपने देश के लिए मरना मेरा कर्तव्य था। मुझे मरने की चिन्ता नहीं। बूढ़ा होने तक प्रतीक्षा करने से क्या लाभ है? मुझे इस बात की चिन्ता नहीं है कि मुझे क्या दण्ड दिया जायेगा—दस, बीस या पचास वर्ष या फाँसी।'

२६ दिसम्बर, १८९९ को सुनाम मे जन्मे ऊधमसिंह के माता-पिता की मृत्यु तभी हो गयी थी, जब वह बच्चा था। इसलिए उसका पालन-पोषण अमृतसर के एक अनाथालय मे हुआ था। जलियावाला बाग के हत्याकाण्ड के एकदम बाद एक उत्तेजक भाषण देने के कारण उसे गिरफ्तार कर लिया गया था। इस समय वह लड़का ही था, बाद मे वह अमेरिका चला गया और वहाँ उसने गदर आन्दोलन में भाग लिया। भारत लौटकर उसने अमृतसर मे एक दुकान खोली जिस पर साइन बोर्ड लगा था 'राम मुहम्मद सिंह आजाद'। इसलिए जब वह कालान्तर मे लन्दन गया तो उसके क्रान्तिकारी मित्र उसे इसी नाम से जानते थे। अतः जब जज ने उससे जानना चाहा कि क्या उसका नाम ऊधमसिंह है, तो उसने उत्तर दिया, 'मेरा नाम ऊधमसिंह नहीं है। मेरा नाम राम मुहम्मदसिंह आजाद है, राम हिन्दुओं के लिए, मुहम्मद मुस्लिमों के लिए, सिंह सिक्खों के लिए और आजाद भारत की आजादी के लिए।'

ढोंग भरे मुकदमे और हिरासत के पश्चात् राम मुहम्मद सिंह आजाद को १२ जून, १९४० को फाँसी पर लटका दिया गया और इस प्रकार वह भगतसिंह से जा मिला। फाँसी के तख्ते पर चढ़ते समय उसके अन्तिम शब्द वही थे, जो १७ अगस्त, १९०९ को पेंटोनविले जेल में मदनलाल धींगड़ा ने कहे थे, और बाद में २३ मार्च, १९३१ को लाहौर केन्द्रीय जेल मे भगतसिंह ने कहे थे। मौत इन शहीदों को जीत नहीं सकी क्योंकि अब वे अमर हो चुके थे।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय
(१८६५-१९२८)

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में लाल, बाल और पाल की त्रिमूर्ति सदा अमर रहेगी। यह ऐसे नाम थे जो उस समय के बच्चे-बच्चे की जबान पर चढ़े हुए थे और जिनसे लोगों को प्रेरणा मिलती थी, जिनके प्रति सिर श्रद्धा से झुक जाते थे। यह तीनों नेता देश के तीन कोनों का प्रतिनिधित्व करते थे। लाल का अर्थ था पंजाब केसरी लाला लाजपतराय, बाल थे महाराष्ट्र शिरोमणि बाल गंगाधर तिलक और पाल का अर्थ था बंगाल की विभूति विपिनचन्द्र पाल। इन्होने देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक अनगिनत सभाओं में देशभक्ति की मशाल जलाई और विदेशियो के शासन की जड़ें खोदकर रख दी। इन्होने स्वाधीनता के बीज को भारत भूमि पर अंकुरित किया। इन लोगों ने अपनी भाषा और वाणी से स्वाधीनता संग्राम मे सिंह-गर्जना भर दी। लालाजी ने अपने भाषणों से लाखों-करोड़ो देशवासियो को उत्साहित किया। तिलक ने घोषणा की कि स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और लाला लाजपतराय ने भी उनके स्वर मे स्वर मिलाकर कहा कि कभी भी स्वाधीनता मांगे से नहीं मिलती, याचिकाएँ इसके लिए व्यर्थ हैं और प्रस्तावों का कोई प्रभाव नही पड़ता। हमें इसके लिए संघर्ष करना होगा, बलिदान करना होगा और खून बहाना होगा। लेकिन धीरे-धीरे इन नेताओ ने भी गांधीजी के असहयोग आन्दोलन को खुले दिल से सहयोग दिया।

लाला लाजपतराय को लोग पंजाब केसरी कहते थे। वे एक विलक्षण वक्ता, उच्च-कोटि के सामाजिक कार्यकर्ता, एक महान शिक्षाशास्त्री तथा लेखक थे। उन्होंने विदेशों की प्रगति से सदा सम्पर्क बनाये रखा और दूसरे देशो में जो स्वाधीनता तथा श्रमिक आन्दोलन चल रहे थे उनके साथ सदा तालमेल बनाये रखा। भारत के स्वाधीनता संग्राम के लिए विश्वभर से सद्भावनाएँ प्राप्त की। गांधीजी का कहना था कि लाला लाजपतराय एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक संस्था थे।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय
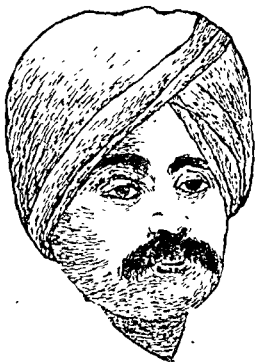
लाला लाजपतराय फिरोजपुर जिले की मोगा तहसील में एक छोटे से गांव ढुडीके में २८ जनवरी, १८६५ को एक कच्चे झोंपड़े में पैदा हुए थे। उनका परिवार पंजाब की परम्पराओं का प्रतीक था, जिसमें सांस्कृतिक सामंजस्य और विभिन्न सम्पर्क वर्गों के बीच प्रेम का अमृत घुला हुआ था। उनके पिता मुंशी राधाकृष्ण अग्रवाल रोपड़ के मिडिल स्कूल में इतिहास और उर्दू के अध्यापक थे। उनकी मां गुलाबदेवी सिख मत की थीं। लाला लाजपतराय के दादा लाला राधाराम अग्रवाल जैन धर्म के अनुयायी थे जबकि उनकी दादी सिख मत में आस्था

रखती थी। मुंशी राधाकृष्ण उदार विचारों के व्यक्ति थे। अपने जवानी के दिनों मे वे इस्लाम से आकर्षित हुए, इसलिए अपनी युवा अवस्था में उन्होंने कुरान पढ़ी। वे कभी-कभी नमाज भी पढ़ा करते थे तथा कभी-कभी रोजे भी रखते थे। उन्होंने फिरदोसी का प्रसिद्ध फारसी काव्य 'शाहनामा' भी पढ़ा था। दूसरे फारसी ग्रन्थों से भी उनको बहुत लगाव था। फारसी के कवि रूमी और हाफिज उनके प्रिय कवि थे।

लाला लाजपतराय के तीन भाई थे—धनपतराय, रनपतराय और दलपत राय। लाला लाजपतराय का प्रारम्भिक जीवन सतलुज नदी के किनारे रोपड़ मे गुजरा, जहाँ ५० वर्ष पहले भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंण्टिक ने स्वतन्त्र पंजाब के शासक महाराजा रणजीतसिंह से भेंट की थी।

११ वर्ष की उम्र में वे लुधियाना के मिशन हाई स्कूल मे दाखिल हुए और एक वर्ष बाद अम्बाला जिले गये जहाँ उन्होंने अरबी, फारसी और उर्दू पढ़ी। उन्हे खेलो की अपेक्षा पुस्तकों मे ज्यादा रुचि थी। १२ वर्ष की उम्र मे लाजपतराय का विवाह हिसार की राधादेवी के साथ हुआ, जबकि वह एक विद्यार्थी ही थे। १५ वर्ष की उम्र मे उन्होंने एक साथ दो मैट्रिक परीक्षाएँ दी—एक परीक्षा कलकत्ता एजूकेशन बोर्ड पाठ्यक्रम से और दूसरी पंजाब एजूकेशन बोर्ड पाठ्यक्रम से। पहले पाठ्यक्रम में उन्होंने प्रथम श्रेणी प्राप्त की।

१६ वर्ष की अवस्था में सन् १८८१ मे उन्होंने लाहौर कॉलेज में दाखिला लिया, जहाँ उन्होंने इण्टरमीडिएट और कानून का अध्ययन किया। लाला लाजपतराय एक गरीब अध्यापक के पुत्र थे और अन्दाजा लगाया जा सकता है कि एक गरीब अध्यापक के बेटे को किन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। लाला लाजपतराय ने अपने शब्दो में खुद इसका इस प्रकार वर्णन किया है—"पहले २-३ महीने तक मुझे बहुत कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। मेरी आँखो ने मुझे तकलीफ दी। इसके अलावा मुझे कई बार भूखा रहना पड़ा। काफी संघर्ष के बाद मुझे ८ रुपये का वजीफा विश्वविद्यालय से प्राप्त करने मे सफलता मिली। मैं लाहौर महज आर्ट्स की डिग्री लेने आया था, लेकिन होस्टल के कुछ साथियों के कहने पर मैंने कानून के स्कूल मे भी दाखिला ले लिया। अपनी मासिक छात्रवृत्ति मे से २ रुपये तो मैं गवर्नमेण्ट कॉलेज में शिक्षा-शुल्क के रूप मे भरा करता था, ३ रुपये कानून के स्कूल मे और शायद १ रुपया होस्टल शुल्क के रूप में। मेरे पिताजी बड़ी मुश्किल से मुझे ८ या १० रुपये महीना भेज पाते थे और मुझे इसी मे गुजारा करना पड़ता था। कानून की किताबें बड़ी महँगी होती थी लेकिन मैं उनमें से बहुत ही जरूरी किताबें खरीदता था और वह भी सस्ते दामो पर—पुरानी किताबें—या फिर मैं दोस्तों की किताबों पर निर्भर करता था। यही किफायत मैंने आर्ट की किताबें खरीदने में बरती और उन्हें भी उधार माँगकर

'काम चलाया। मेरे माता-पिता मेरे लिए बहुत कष्ट उठा रहे थे और वह कर्ज लेने तक को तैयार थे। लेकिन मैं उन्हें कठिनाइयों में डालना नहीं चाहता था। इसलिए मैं बड़ी सादगी से रहता था।"

उनके छात्र-जीवन में दो शिक्षकों का बहुत महत्त्व है—एक थे डा० लेटनर और दूसरे प्रोफेसर मुहम्मद हुसैन आजाद। प्रोफेसर आजाद ने 'कासिसे हिन्द' नामक एक पुस्तक लिखी थी जो भारतीय इतिहास की वीरगाथाओं का संकलन थी। लाला लाजपतराय के युवा व्यक्तित्व पर इस पुस्तक का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। यह वह जमाना था जब पंजाब विश्वविद्यालय का गठन होने वाला था और डॉ० लेटनर का यह इरादा था कि विश्वविद्यालय में एक प्राच्य ज्ञान शिक्षणालय खोला जाए। अन्य पुस्तकें जिन्होंने लाला लाजपतराय को अत्यधिक प्रभावित किया, वे थी—टॉड का 'ऐनल्स ऑफ राजस्थान', बार्टन किंग की 'लाइफ ऑफ मेजिनी' और 'गेरीबाल्डी'। भारतीय विभूतियों में से उन्हें प्रभावित करने वाले थे सर सैयद अहमद खान और उर्दू के कवि शिबली।

उनके बहुत से साथी काफी प्रख्यात हुए। इनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं जैसे महात्मा हंसराज, गुरुदत्त विद्यार्थी, प्रोफेसर रुचिराम साहनी और नरेन्द्रनाथ। लाला लाजपतराय ने ब्रह्मसमाज की सभाओं में भी भाग लिया था और उन्होंने १८८२ में ब्रह्मसमाज की दीक्षा भी ली थी।

लाला लाजपतराय ने १८८३ में लाहौर में आर्यसमाज के वार्षिक समारोह में भाग लिया। जालन्धर के लाला साईंदास के भाषण से वे इतने प्रभावित हुए कि वह आर्यसमाज के नियमित सदस्य बन गये। साईंदास प्रादेशिक आर्यसमाज के अध्यक्ष थे। आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर इस महान वक्ता की प्रतिभा में और भी निखार आया। इस संस्था के साथ रहकर उन्होंने यह कला सीखी कि किस प्रकार श्रोताओं के मन में जागरण पैदा किया जा सकता है। बालगंगाधर तिलक के बाद उनका स्थान चन्दा एकत्र करने वालों में सबसे ऊपर आता था।

अगले कई वर्षों तक वह आर्यसमाज के कार्यों में तन, मन, धन से लगे रहे। उन्होंने समाज की धार्मिक, सामाजिक और शैक्षिक गतिविधियों में बढ़-चढ़कर भाग लिया। डी० ए० वी० कॉलिज आन्दोलन के वह एक स्तम्भ थे और डी० ए० वी० कॉलिज कमेटी के अवैतनिक सचिव भी रहे। उन्होंने कॉलिज में अध्यापक के रूप में भी काम किया और दलितोद्धार सभा में गहरी दिलचस्पी ली, जिसका उद्देश्य भारतीय समाज से अस्पृश्यता दूर करना और कमजोर वर्गों का कल्याण करना था।

लाला लाजपतराय को गवर्नमेंट लाहौर कॉलिज बिना डिग्री प्राप्त किये छोड़ना पड़ा था।

उन्होंने जगरांव में मुख्तार के रूप में भी काम किया लेकिन उन्हें यह

व्यवसाय पसन्द नहीं आया। वह वकील बनना चाहते थे। उन दिनों कानून की डिग्री के लिए कोई कॉलिज नहीं था बल्कि लोगों को आर्ट्स कॉलिज से ही कानून की डिग्री लेनी होती थी, ताकि वकालत शुरू की जा सके। लाला लाजपतराय ने १८८५ में कानून की परीक्षा पास की और रोहतक में वकालत शुरू कर दी। १८८६ में वे हिसार चले गये और १८९२ में लाहौर। इसके बावजूद उन्होंने आर्यसमाज की गतिविधियों से सम्बन्ध जोड़े रखा। दरअसल पंजाब और हरियाणा में आर्यसमाज की लोकप्रियता का कारण लाला लाजपतराय ही थे।

जब १८८८ में इलाहाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तभी से लाला लाजपतराय का राजनीतिक जीवन शुरू हुआ। वह इस सम्मेलन में शामिल हुए थे। इसके बाद वह बम्बई अधिवेशन में भी गये। लेकिन उनका उत्साह ठण्डा पड़ गया और इसके बाद १८९३ तक उन्होंने किसी अधिवेशन में भाग नहीं लिया। अन्त में आकर वह लाहौर अधिवेशन में शामिल हुए। लाला लाजपतराय इस अधिवेशन की स्वागत समिति के सदस्य थे और अधिवेशन में उन्होंने तीन भाषण भी दिये। इस समय उन्होंने जो मुद्दे उठाए उनमें से एक यह भी था कि कांग्रेस का एक संविधान होना चाहिए। लाहौर अधिवेशन उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण अधिवेशन था, जहाँ उनकी भेंट गोपालकृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक से हुई। वे स्वदेशी के कट्टर समर्थक थे और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के प्रबल पक्षधर थे। दरअसल स्वदेशी में उनका अटल विश्वास था और अपने जीवन के अन्तिम समय तक वह इसका प्रचार करते रहे।

अगले कुछ वर्षों में देश में भयानक अकाल, महामारी और प्लेग का प्रकोप हुआ। ऐसे समय लाला लाजपतराय ने जी-तोड़ मेहनत की। उन्होंने पीड़ितों के लिए धन इकट्ठा किया, स्वयंसेवक जुटाए। इसे देखकर ब्रिटिश शासक आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होंने लार्ड कर्जन के नौकरशाही दम्भ और जिद्दी स्वभाव की आलोचना की। लाला लाजपतराय ने २,००० से ज्यादा अनाथ बालकों को बचाया और उन्हें अनाथ आश्रम में रखा। अकाल आयोग के सामने उन्होंने जो बयान दिया उसकी वजह से सरकार को बहुत से कदम उठाने पड़े। इस काम के जोर से उनके स्वास्थ्य पर बड़ा प्रतिकूल असर पड़ा और वह १८९८ में एबटाबाद चले गये। एक दिन वह वर्षा में भीग गये और उन्हें बुखार आ गया। इससे वह ६ महीने तक उठ नहीं सके।

लाला लाजपतराय के जीवन का दूसरा चरण तब शुरू हुआ जब उन्होंने अपनी अच्छी-खासी वकालत को तिलांजलि दे दी क्योंकि उनके सार्वजनिक काम में इससे बाधा पड़ती थी। उन्होंने स्वयं कहा था—"मेरी वकालत मेरे सार्वजनिक जीवन में बाधा डालती है और मेरा सार्वजनिक जीवन मेरी वकालत में बाधक है।" जहाँ-जहाँ राहत कार्यों की जरूरत पड़ी वहाँ-वहाँ लाला लाजपतराय मौजूद

रहते थे। १६०५ में जब कांगड़ा में भूकम्प आया तो वह शिवालिक पहाड़ियों में गये और वहाँ राहत कार्यों में जुट गये।

१६०५ में लाला लाजपतराय गोपाल कृष्ण गोखले के साथ कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में लन्दन गये। उनका उद्देश्य ब्रिटिश जनमत को भारत के बारे में अवगत कराना और भारत के लिए समर्थन जुटाना था। भारत वापिस लौटकर उन्होंने वाराणसी (तत्कालीन बनारस) अधिवेशन में भाग लिया जो दिसम्बर १६०५ में हुआ था और वहाँ उन्होंने भारत के राजनीतिक और आर्थिक शोषण के बारे में एक अविस्मरणीय भाषण दिया।

जनवरी १६०७ में लाला लाजपतराय ने पंजाब में आबपाशी की दरें बढ़ाने के खिलाफ किसानों का प्रदर्शन आयोजित किया। यह एक जन-आन्दोलन था जिसमें अधिकारियों के अनुसार लालाजी ने बहुत ही विस्फोटक भाषण दिया। ब्रिटिश सरकार ने लालाजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें बर्मा की मांडले जेल में भेज दिया। उनके साथ पंजाब के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह भी थे। वे नवम्बर १६०७ तक मांडले जेल में रहे। इस बीच उन्होंने गहन अध्ययन किया और लेखन-कार्य किया। उनकी रिहाई के बाद तिलक जी ने लालाजी का नाम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए पेश किया लेकिन उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया।

१६०८ में वे फिर इंग्लैण्ड गये और वहाँ भारतीय छात्रों को सम्बोधित किया। उस समय लन्दन में मदनलाल धींगड़ा इंजीनियरिंग का अध्ययन कर रहे थे। वह लालाजी की भाषण कला से अत्यन्त प्रभावित हुए। १६१३ में लाजपत राय जापान और अमेरिका भाषण देने के लिए गये। वहाँ वह गदर पार्टी के नेताओं से मिले और 'इण्डियन होमरूल लीग' की स्थापना की। १६२० में भारत लौटने पर उन्होंने कलकत्ता के विशेष अधिवेशन की अध्यक्षता की। यह अधिवेशन गांधीजी के असहयोग आन्दोलन पर विचार करने के लिए बुलाया गया था।

पंजाब सरकार ने उन्हें १६२१ में पंजाब प्रादेशिक राजनीतिक सम्मेलन की गतिविधियों के सिलसिले में फिर गिरफ्तार कर लिया। १६२४, १६२६ और १६२७ में लालाजी ने कई देशों की यात्रा की। इस काल में उन्होंने १६२६ में जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन में भी भाग लिया। संक्षेप में, वह ७ वर्ष तक विदेशों में रहे और जहाँ-जहाँ वे गये, वहीं उन्होंने भारत के प्रति सद्भावना उत्पन्न की। 'ब्रिटिश लेबर ऑरगेनाइजेशन' और आयरलैण्ड के क्रान्तिकारियों के साथ उनके सम्पर्क होने से भी भारत को विदेशों से काफी समर्थन मिला। वे सोवियत वितरण-प्रणाली से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने भारत में जमीन के समान वितरण की मांग की। लाजपतराय का स्वदेशी आन्दोलन में अटूट विश्वास

था और वह समझते थे कि भारत की गरीबी तभी दूर हो सकती है जब विदेशी वस्तुओं का पूरी तरह बहिष्कार किया जाए और जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी जाए।

वह एक अथक लेखक थे। उन्होंने जो पुस्तकें लिखी हैं, वह हैं—(१) यंग इण्डिया, (२) इंग्लैण्ड्स डैट टू इण्डिया, (३) दि पोलिटीकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, (४) ग्रेट थॉट्स, (५) दि आर्यसमाज, (६) आईडियल्ज ऑफ नान-कोआपरेशन, (७) मैसेज ऑफ दि भगवत गीता, (८) दि डिप्रैस्ड क्लासिज, (९) स्टोरी ऑफ माई डिपोरटेशन, (१०) अनहैप्पी इण्डिया।

लाला लाजपतराय की रचनाएँ उर्दू में भी थीं और वे उर्दू गद्य के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उन्होंने एक उर्दू दैनिक 'वन्देमातरम्' भी शुरू किया। उनकी पुस्तक 'स्टोरी आफ माई डिपोरटेशन' पहले उर्दू में 'मेरी जलावतनी की दास्तान' के नाम से लिखी गई थी। उन्होंने कानपुर से निकलने वाली साहित्यिक मासिक पत्रिका 'जमाना' के लिए भी लिखा।

महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक मंच पर उभरने के साथ-साथ ही वातावरण में परिवर्तन आ गया। शुरू-शुरू में लाला लाजपतराय गांधीजी को एक ऐसा व्यक्ति समझा करते थे जो केवल दिवा-स्वप्न ही देख सकता है। लेकिन बाद में उन्होंने महसूस किया कि वह वास्तव में एक बड़े व्यावहारिक नेता हैं। हालांकि लाला लाजपतराय असहयोग आन्दोलन के बहुत अधिक पक्ष में नहीं थे लेकिन बाद में उन्होंने इसके महत्त्व को भी स्वीकार कर लिया। वह अहिंसा के पुजारी थे और इसलिए अहिंसक, शोषण विरोधी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के गांधीजी के उद्देश्य से सहमत थे। जब गांधीजी ने छात्रों का आह्वान किया कि वे कॉलिजों का बहिष्कार करें तो लालाजी ने लाहौर में एक राष्ट्रीय कॉलेज की स्थापना की। इसने बड़े-बड़े देशभक्तों को जन्म दिया जिनमें भगतसिंह और राजगुरु भी शामिल थे। लाला लाजपतरात ने अंग्रेजी साप्ताहिक 'पीपुल' का प्रकाशन भी शुरू किया जो बाद में जनमत का एक शक्तिशाली साधन बन गया। वे देशबन्धु चितरजनदास और मोतीलाल नेहरू द्वारा स्थापित स्वराज्य पार्टी के भी सदस्य बन गये।

१९२८ में पंजाब की राजनीति में एक नाटकीय मोड़ आया। ब्रिटिश सरकार ने ७ सदस्यों का एक आयोग बनाया जिसके सभी सदस्य गोरे थे। यह आयोग भारत में संवैधानिक सुधारों के बारे में सलाह देने आया था। क्योंकि इस आयोग में एक भी भारतीय सदस्य शामिल नहीं किया गया था, इसलिए सभी राजनीतिक दलों ने इसका काले झण्डों से स्वागत करने का फैसला किया तथा 'साईमन वापिस जाओ' के बैनर प्रदर्शित करने का कार्यक्रम बनाया गया। लाहौर नौजवान भारत सभा के क्रान्तिकारियों ने भी फैसला किया कि ३० अक्तूबर, १९२८ को इस

आयोग के सामने प्रदर्शन किया जाए। दरअसल लाहौर में प्रदर्शन का आयोजन इसी सभा की ओर से किया गया था। प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार उस दिन सारा लाहौर शोक मना रहा था। महिलाएँ और बच्चे भी इस प्रदर्शन में शामिल हुए। प्रदर्शन का नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। प्रदर्शन में इतने लोग इकट्ठे हो गये थे कि पुलिस उनका नियन्त्रण करने में असमर्थ थी। उन स्थानों पर सबसे ज्यादा भीड़ थी, जहाँ से आयोग को गुजरना था। चारों ओर विक्षोभ फैला था।

हालांकि भीड़ पूर्णतया अहिंसक थी, लेकिन पुलिस ने लाठीचार्ज किया। लाहौर के पुलिस अधीक्षक ने प्रहार करने का आदेश दिया। यह एकतरफा कार्रवाई थी। पुलिस के उप-अधीक्षक जे० पी० साण्डर्स ने इन आदेशों का बड़ी निर्ममता से पालन किया और वह भूखे भेड़ियों की तरह लोगों पर टूट पड़ा। पहला प्रहार लाला लाजपतराय की छाती पर पड़ा। दूसरी लाठी उनके कन्धे पर पड़ी, तीसरी उनके सिर पर लगी। इसके बाद चौथी, पाँचवी, छठी और अनगिनत लाठियाँ पड़ीं।

फिरोजचन्द ने लाला लाजपतराय की जीवनी में इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

"वे एक दुबले-पतले दिखने वाले इंसान थे लेकिन वह निडर थे। उन्होंने एक मर्द की तरह लाठियों के वार सहे। वह भागे नहीं। वह पीछे हटे नहीं, वे झुके नहीं। उन्होंने अपने समर्थकों को पलटकर वार नहीं करने दिया। उनके सहायकों ने उन्हें घेरकर वार बचाने की कोशिश की और जो लाठियाँ उन पर बरसाई जा रही थीं वे सहीं, तो भी उनपर ज्यादातर लाठियाँ पड़ीं। इसलिए उनका इलाज करने वाले डॉक्टरों को आश्चर्य था कि वह कैसे डटे रहे और गिर क्यों न पड़े।"

स्कॉट ने लाठी अपने हाथ में ले ली और निर्ममता से लालाजी पर वार पर वार किया। भगतसिंह ने यह सब देखा तो वह प्रतिकार करने ही वाले थे लेकिन लाला लाजपतराय ने उन्हें गरजकर कहा कि वे शान्त रहें। इसीलिए उन्होंने घायलों की तरफ ध्यान दिया लेकिन उन युवकों को पकड़ लिया गया और उन्होंने नारे लगाए—'साईमन वापिस जाओ'। यह नारे इतने बुलन्द थे और इतने ज्यादा लोगों का स्वर इनमें मिला हुआ था कि आकाश इन नारों में गूँज उठा। पूरे शहर में हड़ताल थी। उसी शाम लाहौर के भाटी दरवाजे पर एक बड़ी सभा बुलाई गई जिसका उद्देश्य पुलिस द्वारा लाला लाजपतराय पर किये गये निर्मम प्रहारों के प्रति विक्षोभ प्रकट करना था। उन्होंने घोषणा की कि "मेरे ऊपर हुआ एक-एक प्रहार भारत में ब्रिटिश शासन की कब्र में लगा एक-एक पत्थर साबित होगा।" बैठक के तुरन्त बाद लालाजी को अस्पताल ले जाया गया। १८ दिन बाद उनका देहान्त हो गया। रावी नदी के किनारे जब उनका अन्तिम

संस्कार किया गया, तो करीब ३० हजार लोगों की शोक संतप्त भीड़ ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की।

कलकत्ता में एक बैठक मे देशबन्धु चितरंजन दास की पत्नी श्रीमती बसन्ती देवी ने अपनी कलाई की चूड़ियाँ उतारकर नौजवानो के ऊपर फेंकी और उनको यह अहसास कराया कि भारत के नौजवानो, तुमने यह अपमान का घूँट पीकर भारत की नारियो को इस बात के लिए विवश किया है कि वे बदला लेने के लिए आगे आयें। भगतसिंह का खून खौल उठा और उन्होने स्कॉट और लाला लाजपतराय पर हमला करने वाले दूसरे लोगों को मौत के घाट उतारने का प्रण किया।

१० दिसम्बर, १९२८ की रात को 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी की लाहौर मे बैठक हुई। स्कॉट को जान से मारने का काम भगतसिंह को सौंपा गया जबकि राजगुरु, सुखदेव, आजाद और जयगोपाल को भगतसिंह की सहायता का काम सौंपा गया। १७ दिसम्बर, १९२८ के दिन उसको गोली से उड़ाने की तिथि निश्चित की गई। उस दिन जब एक अंग्रेज पंजाब सिविल सचिवालय से बाहर निकला तो जयगोपाल ने उस पर हमला कर दिया। यह हमला उसने गलती से किया। दरअसल यह व्यक्ति जे०पी० साण्डर्स था। राजगुरु ने उस पर उस समय गोली चलाई जब वह अपनी मोटर साइकल स्टार्ट कर रहा था। साण्डर्स उसी समय ढेर हो गया। भगतसिंह उसके पास दौड़कर आया और साण्डर्स की खोपड़ी मे ४ या ५ गोलियाँ मारी।

सवेरे लाल पोस्टर जारी किया गया जिसमे कहा गया कि 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी ने लाला लाजपतराय की मौत का बदला लिया है और राष्ट्रीय अपमान का कलंक धो दिया है।' यह पोस्टर खूनी रंग से लिखा हुआ था।

"देश के नेता की हत्या पर ३० करोड़ लोगो के सिर उसके सम्मान मे झुक गये। एक मामूली से पुलिस सिपाही के हाथो राष्ट्र का अपमान हुआ था। देश के नवयुवको के लिए यह एक चुनौती थी। आज दुनिया ने यह देख लिया है कि भारत का पौरुष मरा नही है और उनकी नसो मे ठण्डा पानी नही बहता है।"

लाला लाजपतराय आज हमारे बीच नही हैं लेकिन उनका संदेश आज भी मौजूद है। वे एक इंसान ही नही, एक आन्दोलन थे। एक आन्दोलन से भी बढ़कर वे देश के लाखो-करोड़ो इंसानो के लिए प्रेरणा थे। लाला लाजपतराय को न केवल इसलिए याद किया जायेगा कि उन्होने स्वाधीनता संग्राम मे अपना जीवन होम कर दिया बल्कि इसलिए भी उन्हें याद किया जायेगा कि उन्होने १८९६ और १८९९ के अकाल के दौरान बहुत से राहत-कार्य किये। उन्हें इसलिए भी याद किया जायेगा कि १९०५ के कांगड़ा भूकम्प मे और १९०७ की बाढ़ मे

उन्होंने मानव-जाति को बचाने के लिए अपना तन, मन और धन लगा दिया। उन्होंने बेसहारा लोगों के लिए आश्रम बनाए। विधवाओं के लिए घर बनाए। गुलाबदेवी अस्पताल और जालंधर का अपाहिज आश्रम उन्हीं के द्वारा स्थापित किये गये थे। उन्होंने बहुत से कॉलिज और स्कूल बनवाए, जिनमें लाहौर का नेशनल कॉलेज भी शामिल है। उनकी रचनाओं से लाखों लोग प्रेरित हुए। पंजाब केसरी के नाम से और शेरे पंजाब के नाम से प्रसिद्ध लाला लाजपतराय हमारे दिलोदिमाग पर युगों-युगों तक छाये रहेंगे।

उनका संदेश और मिशन इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—

"राष्ट्र मेरा धर्म है,
जन-सेवा मेरी पूजा है,
मेरी चेतना मेरे लिए आदेश है,
लेखनी मेरी सम्पदा है,
आर्यसमाज मेरी माँ है,
मेरा हृदय ही मेरा मन्दिर है और
इस मन्दिर में मेरी आकांक्षाएँ सदा बलवती हैं।"

शहीद भगतसिंह : स्वतन्त्रता-संग्राम का अमरपक्षी
(१९०७-१९३१)

भगतसिंह का जन्म शनिवार २७ सितम्बर, १९०७ को गाँव बंगा, तहसील जड़ाँवाला, जिला लायलपुर में हुआ था जो अब पाकिस्तान में है। उनके जन्म के समय अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण उनके पिता सरदार किशनसिंह और चाचा श्री स्वर्णसिंह लाहौर की सेण्ट्रल जेल में कैद थे। उनके दूसरे चाचा श्री अजीतसिंह बर्मा की माण्डले जेल में आजीवन कारावास की सजा काट रहे थे। बर्मा उस समय भारत का भाग था। भगतसिंह के दादा श्री अर्जुनसिंह, स्वामी दयानन्द से मिलकर यद्यपि आर्यसमाजी बन गये थे लेकिन वे एक उदार विचारों के व्यक्ति थे। राष्ट्रवादी भावनाओं के लिए प्रसिद्ध भगतसिंह का परिवार लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द, सूफी अम्बा प्रसाद और महात्मा हंसराज जैसे स्वतन्त्रता सेनानियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। उस समय पंजाब में असन्तोष की ज्वाला धधक रही थी और जगह-जगह हड़तालें होती थीं। आन्दोलन चल रहे थे तथा जलसे किए जाते थे।

दादी ने नवजात शिशु का नाम भगतसिंह रखा क्योंकि उसके पैदा होते ही उसके तीनों पुत्र जेल से रिहा हो गये थे, जो परिवार के लिए एक सुखद घटना थी। पंजाबी में 'भाग' का अर्थ है सौभाग्य। नवजात शिशु के आने से परिवार में खुशियाँ आयीं, इसलिए उसे 'भागोंवाला' यानि सौभाग्यदूत कहा गया। जैसा कि पंजाबी परिवारों में होता है, इस बच्चे का नाम भी अपने बड़े भाई जगतसिंह के नाम से मिलता-जुलता रखा गया। भगतसिंह की माता श्रीमती विद्यावती बहुत साहसी और सहनशील महिला थीं। इसका उदाहरण इसी बात से मिलता है कि वे चार बार साँप के काटे जाने के बावजूद जिन्दा रहीं। परिवार के हर सदस्य का नाम पुलिस के अभियुक्तों की सूची में दर्ज था तथा पुलिस उनके पीछे पड़ी रहती थी तो भी उन्होंने हिम्मत न हारी।

सरकारी रिकार्ड में अजीतसिंह राजद्रोही थे जिन्होंने किसानों और सैनिकों

को अंग्रेजी हुकूमत का जुआ उतार फेंकने के लिए उकसाया। उन्होंने 'भारत माता सोसाइटी' आरम्भ की जिसके बहुत से समर्थक थे। साथ ही एक समाचार पत्र 'पेशवा' भी आरम्भ किया, जिस पर बाद में तत्कालीन पंजाब सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस तरह भगतसिंह का बचपन देशभक्तिपूर्ण माहौल में गुजरा, जहाँ जेल जाने पर खुशी मनाई जाती थी और मिठाइयाँ बाँटी जाती थी। परिवार का पैतृक गाँव खटकर कलाँ, जिला जालन्धर में स्थित था, जहाँ अब पंजाब सरकार ने एक स्मारक स्तम्भ स्थापित किया है। किशनसिंह की बंगा गाँव में जमीन थी पर बीमा के व्यवसाय के सिलसिले में वह अकसर लाहौर आते रहते थे। जब पंजाब सरकार ने उपनिवेशन अधिनियम पास किया तो इसके विरुद्ध किए गए आन्दोलन में किशनसिंह भी शामिल हुए। जब भगतसिंह साढ़े चार वर्ष के हुए तो उन्हें बंगा गाँव के जिला बोर्ड के प्राइमरी स्कूल में दाखिल कराया गया, जहाँ वह पाँचवीं कक्षा तक पढ़े। १९१६ में उनके पिताजी उनको डी० ए० वी० स्कूल, लाहौर ले आये, जहाँ भगतसिंह ने अंग्रेजी, उर्दू और संस्कृत की शिक्षा ली।

शिक्षा की इस अवधि के दौरान, भगतसिंह दो घटनाओं द्वारा अत्यधिक प्रभावित हुए। ये घटनाएँ थीं—गदर आन्दोलन एवं अमृतसर का जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड। विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारियों के किस्सों से उन्हें प्रेरणा मिलती रही लेकिन जब वे स्वयं करतारसिंह सराबा और रासबिहारी बोस के सम्पर्क में आये तो उत्साहित हो उठे। सराबाजी को १९१६ में फाँसी लगा दी गई। भगतसिंह हमेशा उनका फोटो अपनी जेब में रखते थे ताकि उन्हें प्रतिदिन उनसे प्रेरणा मिलती रहे। लेकिन देश में हुए रक्तपात से उनका क्रोध भड़क उठा। जनरल डायर, जिसका इस हत्याकाण्ड के पीछे प्रमुख हाथ था, ये डींगें हाँक रहा था कि उसने १६५० गोलियाँ चलाई हैं और उनमें से कोई भी गोली बेकार नहीं गई। जनरल डायर अपनी काली करतूतों पर खुश हो रहा था और उसकी निर्ममता और ज्यादा बढ़ गई थी। उसने एक आदेश जारी किया कि अमृतसर के लोग कुहनी और घुटनों के बल घिसटकर चलें। शहर के लोगों पर भारी सामूहिक जुर्माना किया गया। भगतसिंह ने इस अनाचार की खबर सुनी तो वह उस दिन स्कूल नहीं गए बल्कि अमृतसर के लिए रवाना हो गए। वह उस जगह पहुँचे जहाँ यह हत्याकाण्ड हुआ था। उन्होंने मुट्ठी भर मिट्टी हाथ में उठाई, उसका तिलक किया और शीशी में भर लिया। जब वे शाम को घर लौटे तो उनकी बहन ने खाने के लिए कहा और बोली मैंने तुम्हारे लिए आम बचा कर रखे हैं और दोनों मिलकर खाएँगे। वैसे भगतसिंह आम बहुत पसन्द करते थे लेकिन उस दिन उन्होंने कुछ नहीं खाया। वह अपनी बहन को एक ओर ले गए और खून से सनी पवित्र मिट्टी दिखाई। उनके परिवार के सदस्यों का कहना

है कि वह रोज सुबह उस शीशी पर फूल चढ़ाते थे। उसी वक्त उनके दिमाग में यह बात घर कर गई कि वह देश के लिए ऐसा काम करें जिसे भुलाया न जा

शहीद भगतसिंह

सके। उस समय भगतसिंह की आयु केवल १२ वर्ष की थी। १६२१ में जब वे ९वीं कक्षा में पढ़ रहे थे तो महात्मा गांधी के इस आह्वान पर कि शिक्षा संस्थानों का बहिष्कार करो, उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया। बाद में गांधीजी ने यह

आन्दोलन वापिस ले लिया। लेकिन इससे एक नयी समस्या खड़ी हो गई। वह समस्या थी स्कूल छोड़ने वाले छात्रों के पुनः स्कूल प्रवेश की। परिणामस्वरूप इन छात्रों के लिए लाला लाजपतराय व भाई परमानन्द ने मिलकर नेशनल कॉलिज के नाम से एक नये कालेज की स्थापना की। मेहनती और अध्ययनशील होने के कारण भगतसिंह उस परीक्षा में आसानी से उत्तीर्ण हो गए जो विशेष रूप से उनके लिए निर्धारित की गई थी। इस प्रकार उन्हें कला (आर्ट्स) के प्रथम वर्ष में प्रवेश मिला। इसी कॉलिज से उन्होंने १६२२ में एफ० ए० (इण्टर-मीडिएट) की परीक्षा पास की। लेकिन विवाह के मामले को लेकर उन्हें बी० ए० की शिक्षा बीच में ही छोड़ देनी पड़ी।

कॉलिज में उन्हें प्रो० जयचन्द विद्यालंकार जैसे अध्यापकों से पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिनसे इतिहास पढ़ने के बाद वे रोमांचित हो उठे। यहीं उनकी मुलाकात प्रो० तीर्थराम, सुखदेव, भगवतीचरण आदि जैसे महान क्रान्तिकारियों से हुई। वह अक्सर नाटकों में भी भाग लेते थे। चन्द्रगुप्त नाटक में उनका अभिनय इतना स्वाभाविक था कि भाई परमानन्दजी उन्हें शाबाशी देने के लिए दर्शक गणों के बीच में से उठकर मंच की ओर गए और उनका आलिंगन किया। इसी कॉलिज में उनका परिचय महान स्वतन्त्रता सेनानी और हिन्दी के विख्यात लेखक यशपाल से हुआ जिन्होंने बाद में भगतसिंह के कॉलिज जीवन तथा इसी कॉलिज में भगतसिंह से हुए अपने सम्पर्क के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियाँ दीं। प्रो० विद्यालंकार राजनीति के क्षेत्र में भगतसिंह के गुरु बने और इन्होंने ही अलीगढ़, आगरा, कानपुर में भगतसिंह की मुलाकात अन्य क्रान्तिकारियों से कराई। अकसर कहा जाता है कि यदि भगतसिंह क्रान्तिकारी गतिविधियों को न अपनाते तो एक महान विद्वान बनते। उस समय के उनके एक साथी श्री शिव वर्मा के शब्दों में, "मुझे ऐसा एक भी अवसर याद नहीं आता, जबकि वे कुछ पुस्तकें न उठाए हुए हों। मैंने उन्हें अक्सर अस्त-व्यस्त हालत में और कई दफा तो फटे-पुराने कपड़ों में देखा है, परन्तु उस समय भी उनकी बगल में पुस्तकें दबी होती थीं। भगतसिंह सुन्दरता, संगीत और कला के भी प्रेमी थे। जब भी वह और सुखदेव हमारे गुप्त स्थान आगरा में आते तो मैं उन दोनों को नौजवान भारत सभा, मजदूर वर्ग की हालत और पंजाब कांग्रेस की गतिविधियों के बारे में गम्भीर चर्चा करते हुए पाता।"

अपने विवाह के तय हो जाने के मसले को लेकर, भगतसिंह को मजबूरन कॉलिज छोड़ना पड़ा। अपनी माँ की इच्छा पूरी करने के लिए किशनसिंह ने भगतसिंह का विवाह शेखुपुरा जिले के मानवाला गाँव के तेजासिंह मान की बहन से करने का निश्चय किया। जैसे ही यह समाचार भगतसिंह के पास पहुँचा, उन्होंने अपने पिता को लिखा :

"पूजनीय पिताजी,

यह शादी का समय नहीं है। देश मुझे पुकार रहा है। मैंने तन, मन, धन से देश-सेवा करने का व्रत लिया है। वैसे भी यह हमारे लिए कोई नयी बात नहीं है। हमारा सारा परिवार देशभक्तों से भरा पड़ा है। १९१० में मेरे जन्म के २ या ३ साल के बाद ही चाचा स्वर्णसिंह की मृत्यु जेल में हुई थी। चाचा अजीतसिंह जी निर्वासित होकर विदेशों में रह रहे हैं। आपने भी जेलों में बहुत सी यातनाएँ झेली हैं। मैं तो केवल आपके पद-चिह्नों पर चल रहा हूँ, इसीलिए मैंने ऐसा करने का साहस किया है। आप कृपया मुझे विवाह-बन्धन में न बाँधें बल्कि मुझे आशीर्वाद दें जिससे मैं अपने मिशन (उद्देश्य) में सफल हो सकूँ।"

इस पत्र को पढ़कर सारा परिवार स्तब्ध रह गया फिर भी किशनसिंह ने उनके पत्र के जवाब में लिखा :

"प्रिय पुत्र,

हमने तुम्हारा विवाह तय कर दिया है। हम वधू देख चुके हैं। वह और उसके माँ-बाप हमें पसन्द हैं। स्वयं मुझे और तुम्हें भी अपनी वृद्ध दादी की इच्छा का आदर करना चाहिए। इसलिए मेरी आज्ञा है कि तुम इस विवाह के समारोह में कोई रुकावट नहीं डालोगे और इसके लिए खुशी से तैयार हो जाओगे।"

भगतसिंह ने शीघ्र ही जवाब भेजा :

"पूजनीय पिताजी,

आपके पत्र को पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ। यदि आप जैसे सच्चे देशभक्त और बहादुर पुरुष को भी इन नगण्य बातों से प्रभावित किया जा सकता है तो एक साधारण से आदमी का क्या हाल होगा ?

आप केवल दादी की चिन्ता कर रहे हैं। लेकिन ३३ करोड़ लोगों की माँ— भारत माता के दुःख-दर्द के बारे में सोचें। हमें उसके लिए सब कुछ बलिदान कर देना चाहिए।"

कॉलेज और घर छोड़ने से पहले उन्होंने अपने पिता को एक और पत्र भेजा :

"पूज्य पिताजी,

नमस्ते। मैंने अपना जीवन मातृभूमि की सेवा जैसे महान उद्देश्य के लिए अर्पित कर दिया है। इसलिए मुझे घर और सांसारिक वस्तुओं के प्रति कोई मोह नहीं है।

आपको याद होगा, मेरे यज्ञोपवीत के अवसर पर बापू जी ने कहा था कि मुझे

देश-सेवा के लिए दान कर दिया गया है। मैं तो उन्हीं की प्रतिज्ञा को पूरा कर रहा हूँ।

आशा है कि आप मुझे क्षमा करेंगे।"

आपका

ह० (भगत सिंह)

लाहौर में अपने दोस्तों से बिछुड़ने से पहले उन्होंने कहा था :

दोस्तो,

मैं आज आपको बताना चाहता हूँ कि गुलाम भारत में होने वाला मेरा विवाह सिर्फ मौत से ही हो सकता है। मेरी बारात की जगह शवयात्रा निकलेगी और बाराती होंगे देश पर बलिदान होने वाले शहीद।

यह कहते हुए वे लाहौर रेलवे स्टेशन से कानपुर जाने वाली गाड़ी में सवार हुए। उस समय उनके पास 'बन्दी जीवन' (लाइफ इन प्रिजन) के लेखक और महान क्रान्तिकारी शचिन्द्रनाथ सान्याल का मात्र एक पत्र ही था।

क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए जब भगतसिंह ने अपना घर छोड़ा तो सान्याल से उन्होंने बहुत प्रेरणा ली। यहीं से उनके जीवन में एक नया अध्याय शुरू हुआ। उस समय भगतसिंह ने अपने जीवन के केवल १५वें वर्ष में प्रवेश किया था।

कानपुर में वह एक छात्रावास में बलवन्तसिंह के नाम से ठहरे और छात्रावास के एक अन्य क्रान्तिकारी सहवासी बटुकेश्वर दत्त से बंगाली भाषा सीखी। बहुत कम समय में ही वह काजी नजरुल इस्लाम की प्रसिद्ध कविता 'विद्रोही' गाने लगे थे। छात्रावास में ठहरने के दौरान उन्होंने अपना अधिक समय कार्ल मार्क्स को पढ़ने में लगाया। दिल्ली में दंगे हो रहे थे और यह निर्णय किया गया कि भगतसिंह को हिन्दी पत्र 'प्रताप' के सम्वाददाता के रूप में ताजा जानकारी हासिल करने के लिए भेजा जाए। भगतसिंह ने यह काम आश्चर्यजनक तत्परता और बारीकी से किया। वीरेन्द्र सन्धु ने अपनी पुस्तक 'युगद्रष्टा भगतसिंह' में लिखा है कि भगतसिंह ने अलीगढ़ जिले के शादीपुर शहर के एक ग्रामीण स्कूल में मुख्याध्यापक के रूप में भी काम किया। ऐसा उन्होंने पुलिस की नजरों से बचने के लिए ही किया होगा क्योंकि उस समय कानपुर के छात्रावास के आस-पास पुलिस शक की निगाह से देख रही थी। यहाँ उन्होंने अक्तूबर १९२४ में गंगा-जमुना में आई बाढ़ से राहत दिलाने के लिए सहायता-कार्य किए।

फिर भी, भगतसिंह के पिता को उनके ठिकानों का पता लग गया। उन्होंने 'वन्देमातरम्' अखबार में भी एक पत्र प्रकाशित करवाया जिसमें उन्हें घर लौट आने को कहा गया था। लेकिन इसका भी कोई असर न होने पर उन्होंने जयदेव

गुप्ता और रामदेव को इस बहाने से भगतसिंह को वापिस लाने के लिए भेजा कि उनकी दादी मरणासन्न है और उन्हें देखना चाहती है। लेकिन भगतसिंह वहाँ से निकल भागे और उनके पिता द्वारा भेजे गए आदमी उनसे मिल नहीं सके। तत्पश्चात् अपने पुत्र को घर वापिस लाने के लिए किशनसिंह ने उर्दू के प्रसिद्ध कवि और राष्ट्रवादी हजरत मोहानी की सहायता लेनी चाही। उन्होंने पत्र में किशनसिंह ने हजरत मोहानी को लिखा कि वह यह बात स्पष्ट रूप से कह रहे हैं उनके परिवार का कोई भी सदस्य भगतसिंह को शादी के लिए मजबूर नही करेगा। और उनकी यह कोशिश सफल हुई। लेकिन फिर भी भगतसिंह छः महीने के बाद घर लौटे। उनके घर लौटने के समय उनकी दादी वास्तव में बीमार थी। पोते की उपस्थिति ने दवा से अधिक काम किया और वह फिर से चलने-फिरने के योग्य हो गई।

१९२५ में भगतसिंह के क्रान्तिकारी जीवन में एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटी। अपने घर वालों द्वारा यह तसल्ली दिए जाने पर कि अब उन्हें शादी के लिए मजबूर नही किया जाएगा, भगतसिंह ने पंजाब के गाँवों का भ्रमण शुरू कर दिया जहाँ उन्हें पता चला कि सिख गुरुद्वारों मे भक्तों द्वारा चढ़ाई गई करोड़ो रुपए की रकम के दुरुपयोग पर सिखो में रोष व्याप्त है। वे लोग इस धन का उपयोग राष्ट्र-निर्माण के कार्यों मे करना चाहते थे। सिखों ने इस भ्रष्टाचार को समाप्त करने का निर्णय लिया और वे बड़े-बड़े जत्थों मे गुरु नानक देव के जन्म-स्थल ननकाना साहिब की ओर निकल पड़े। यह एक प्रगतिशील कार्य था जिसमे नाभा के महाराजा रिपुदमनसिंह भी हाथ मे काला झण्डा लिये आन्दोलन में शामिल हो गए। यह जानते हुए भी कि यह कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं है, अंग्रेज सरकार के कान खड़े हो गए। महाराजा से गद्दी छीन ली गई और उन्हें देहरादून शहर मे नजरबन्द कर दिया गया।

आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था लेकिन सरकार ने भी इसे मजबूती से कुचलने का संकल्प कर रखा था। वास्तव में बहुत से आन्दोलनकारी गोली चलने से मारे गए। एक जत्था भगतसिंह के गाँव से होकर गुजर रहा था। उस समय भगतसिंह के पिता अपने बीमे के कारोबार के सिलसिले में बम्बई जा रहे थे। उन्होंने अपने पुत्र को सभी आवश्यक निर्देश दे दिए। भगतसिंह को मौका मिल गया क्योंकि उनके लिए भ्रष्ट महन्तों को हटाना भी उतना ही जरूरी था जितना ब्रिटिश सरकार को हटाना। वफादार सिख और सरकारी कर्मचारी इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे। भगतसिंह को अपने एक सम्बन्धी सरदार साहिब दिलबाग सिंह से निपटना था जो ब्रिटिश सरकार के अधीन कार्यरत था। दिलबागसिंह ने यह आदेश दिया कि कुएँ से पानी निकालने वाली सभी रस्सियाँ तथा बाल्टियाँ नष्ट कर दी जाएँ जिससे जत्थे के सदस्यों को पीने के लिए एक बूंद पानी भी न

मिले। उसने यहाँ तक कहा कि सभी पशुओं को पड़ोसी गाँवों में पहुँचा दिया जाए जिससे जत्थे को दूध भी न मिल सके। इस सकटपूर्ण घड़ी में, जबकि सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों पर पुलिस और दिलबाग के आदमी पडाव डाले हुए थे, जत्था वहाँ पहुँचा। उस समय भगतसिंह ने अपना पहला महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भाषण दिया जिसमें उसने आयरलैण्ड के इतिहास तथा बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के उदाहरण दिये।

स्वयंसेवक भगतसिंह से बहुत प्रभावित हुए और वे एक रात के बजाए तीन दिन वहाँ रुके। सरकार के जी हुजूरों के साथ एक भी ग्रामीण नहीं था। स्थिति शान्त होने के कारण सरकार भगतसिंह के खिलाफ कुछ भी कार्यवाही न कर पायी। गाँव वालों ने आन्दोलनकारियों का जो अतिथि-सत्कार किया वह अविस्मरणीय था और इस प्रकार दिलबागसिंह को नीचा देखना पड़ा। भगतसिंह के खिलाफ कोई केस न होने के बावजूद भी पुलिस ने एक झूठा केस तैयार किया और उनके खिलाफ वारण्ट जारी कर दिए। लेकिन भगतसिंह ने कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थी। वे लाहौर की ओर चल दिए। वहाँ से वे दिल्ली आए। यहाँ उन्होंने हिंदी पत्र 'वीर अर्जुन' के स्टाफ रिपोर्टर के रूप में कार्य किया।

अपने कानपुर प्रवास के दौरान भगतसिंह सं० प्रा० के क्रान्तिकारियों द्वारा गठित हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के सदस्य बन गए थे जिसका उद्देश्य भारत में संगठित रूप से व सैनिक क्रान्ति द्वारा संयुक्त राज्य स्थापित करना था। रिपब्लिक का मूल सिद्धान्त था हर व्यक्ति को वोट का अधिकार देना और ऐसी हर प्रथा का अन्त करना जिससे मानव द्वारा मानव का शोषण होता हो। इस संस्था के जरिए उनका परिचय बटुकेश्वर दत्त, चन्द्रशेखर आजाद और विजय कुमार सिन्हा जैसे क्रान्तिकारियों से हुआ। लाहौर में रहते हुए भी भगतसिंह ने स० प्रा० के साथियों से अपना सम्पर्क बनाए रखा। उन्होंने सोहनसिंह जोश द्वारा संगठित कीर्ति किसान पार्टी से भी अपने सम्बन्ध स्थापित किए। इस संगठन का 'कीर्ति' नाम से एक मुखपत्र प्रकाशित होता था। यह एक उर्दू पत्रिका थी जिसके लिए भगतसिंह ने बहुत से लेख लिखे। १९२६ में उन्होंने एक नया सगठन 'नौजवान भारत सभा' के नाम से शुरू किया जिसका मुख्य कार्य स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार करना, शारीरिक स्वास्थ्य और भारतीय भाषा व संस्कृति के विकास पर बल देना था। थोड़े ही समय में इस सभा ने सम्पूर्ण भारत के मजदूरों और किसानों का एक स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित करने का राजनीतिक कार्यक्रम अपनाया। इस सभा ने देश के नवयुवकों के दिलो-दिमाग में देशप्रेम का मन्त्र फूंका जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र एकता के सूत्र में बँध सके।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगतसिंह की आर्थिक विचारधारा सामाजिक न्याय पर आधारित थी। सभा का कीर्ति किसान पार्टी तथा हिन्दुस्तान रिपब्लिकन

एसोसिएशन के साथ भी सम्बन्ध था। इसकी शाखाएँ पंजाब के विभिन्न जिलों जैसे लाहौर, अमृतसर, जालन्धर, लुधियाना, मोंटगुमरी, मोरिण्डा, मुल्तान, अट्टक, सरगोधा और सियालकोट में थीं। इस दल ने आर्थिक और सामाजिक विषयों पर कई पुस्तिकाएँ प्रकाशित करवाईं। सभा के अन्य महत्त्वपूर्ण सदस्य थे, रामकृष्ण, शार्दूलसिंह कवीश्वर, भगवतीचरण वोहरा, केदारनाथ सहगल, मीर अब्दुल मजीद, डॉ० सत्यपाल, सैफुद्दीन किचलू, पिण्डीदास और कवि लालचन्द फलक। सभा मे भर्ती होने वाले अधिकतर विद्यार्थी ही थे। इसके लिखित प्रमाण मिलते हैं कि जिस दिन करतारसिंह सराबा को फाँसी दी गई वह दिन सभा ने लाहौर के ब्रॉडला हाल में रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकुल्ला खाँ, रोशनसिंह और लाहिड़ी जैसे शहीदों की याद के रूप में मनाया जिनका नाम ६ अगस्त, १९२५ को हुए काकोरी मेल डकैती काण्ड से जुड़ा हुआ था।

इस सम्मेलन मे भगतसिंह ने मैजिक लालटेन की सहायता से बिस्मिल की मर्मस्पर्शी कहानी प्रस्तुत की। भगवतीचरण की पत्नी दुर्गा भाभी तथा सुशीला ने अपनी उँगलियों को छेदकर करतारसिंह के चित्र पर अपने खून से टीका लगाया। धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के सिद्धान्त पर ही सभा की स्थापना की गई थी। इसमे हिन्दुओं, मुसलमानों और अछूतों के सम्मिलित भोज का आयोजन किया जाता था। भजल, मंसूर और अहसान इलाही सभा के प्रमुख मुसलमान सदस्य थे जिन्होंने मुस्लिम अन्धविश्वासों पर कड़ी चोट की तथा प्रिंसिपल छबीलदास ने हिन्दुओं में व्याप्त जाति तथा अन्धविश्वास की बुराई के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। यह तो सभा के खुले अधिवेशन थे जिनमे हर कोई आ सकता था, किन्तु कुछ गुप्त अधिवेशन भी हुआ करते थे। इनकी गुप्त गतिविधियाँ तथा पुस्तिकाएँ शीघ्र ही सरकार की निगाह मे आ गईं तथा ३ मई, १९३० को राजद्रोही सम्मेलन अधिनियम के अन्तर्गत इस सभा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। यह याद रखा जाना चाहिए कि भगतसिंह ने कानपुर जेल में बन्द काकोरी क्रान्तिकारियों—श्री जोगेश चटर्जी तथा श्री एस० एन० सान्याल को बचाने की भरसक कोशिश की किन्तु उन्हें बचा न सकने पर भगतसिंह को बहुत दु:ख हुआ। लेकिन शीघ्र ही वह पुन: सक्रिय रूप से काम मे जुट गए।

१९२७ में भगतसिंह को दशहरा बम्ब काण्ड मे फँसाकर गिरफ्तार कर लिया गया। वास्तव मे बम्ब हिन्दू त्यौहार के अवसर पर किसी शरारती द्वारा फेंका गया था और भगतसिंह का इसमे कोई हाथ नहीं था। वैसे भी क्रान्तिकारी इस प्रकार के कार्यों मे विश्वास नहीं करते थे। यह सर्वविदित है कि पुलिस दंगा करवाकर कुछ एक क्रान्तिकारियों को पकड़ना चाहती थी। लेकिन पुलिस की यह तरकीब कामयाब न हो सकी और उसे भगतसिंह को छोड़ना पड़ा।

८-९ सितम्बर, १९२८ को दिल्ली मे हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन

मा एक सम्मेलन हुआ जिसमें पंजाब, सं० प्रा०, राजपूताना और बंगाल के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले कुल ६५ क्रान्तिकारी थे जिनमें से ५ महिलाएँ थीं। यहाँ दल के नये कार्यक्रम को स्वीकार किया गया। इसी सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि समाजवाद लाना ही इस दल का अन्तिम उद्देश्य होगा तथा स्वतन्त्र भारत की सरकार समाजवादी सिद्धान्तों पर आधारित होगी। यहीं पर हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी के नाम से एक नया सेल बनाया गया, जिसका नायक चन्द्रशेखर आजाद को नियुक्त किया गया। इसी सम्मेलन में साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निर्णय किया गया। कलकत्ता, सहारनपुर, आगरा और लाहौर में बम्ब फैक्टरी खोलने का निश्चय भी यहीं किया गया। दल के कोष में वृद्धि करने के लिए सरकारी खजाने लूटने और उनकी डकैतियाँ डालने का निर्णय भी किया गया।

साइमन कमीशन का खुले रूप से बहिष्कार करके भगतसिंह ने अपने जीवन के नवीन पक्ष में प्रवेश किया। उन्होंने इसके सुझावों के खिलाफ आन्दोलन तथा गोष्ठियाँ आयोजित कीं। अंग्रेज सरकार ने भारत में संवैधानिक सुधारों के बारे में सिफारिश देने के लिए सात सदस्यों का एक आयोग भेजा था जिसके सभी सदस्य अंग्रेज थे। कमीशन में एक भी भारतीय को शामिल नहीं किया गया था। इस कारण सभी दलों ने यह निर्णय किया कि कमीशन को काले झण्डे दिखाए जाएँ जिन पर 'साइमन वापिस जाओ' लिखा हो। लाहौर के क्रान्तिकारियों की नौजवान भारत सभा में एक जन विभाग भी था। उसने ३० अक्तूबर, १९३० को कमीशन के विरोध में हो रहे प्रदर्शन में भाग लेने का निश्चय किया। वास्तव में लाहौर में हो रहे सभी प्रदर्शन और हड़तालें सभा द्वारा ही आयोजित की गयी थीं। आँखों देखे प्रमाणों से यह पता लगता है कि उस दिन लाहौर की पूरी जनता काले कपड़ों में थी। प्रदर्शनों में बच्चे और महिलाओं ने भी बहुत बड़ी संख्या में भाग लिया। उस दिन का समस्त आन्दोलन लाला लाजपतराय, जिन्हें हम पंजाब केसरी के नाम से जानते हैं, के नेतृत्व में किया गया था। असंख्य जन समुदाय उमड़ पड़ा था और पुलिस इतने बड़े जन समुदाय को नियन्त्रित रखने में अक्षम थी। यहीं से कमीशन के सदस्यों को गुजरना था। चारों ओर से रोष प्रकट किया जा रहा था।

पुलिस ने पहले भीड़ को तितर-बितर करने के लिए हलका-सा लाठी चार्ज किया लेकिन युवा लोगों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने स्थानों पर चट्टानों के समान अडिग खड़े रहे। तत्पश्चात् पुलिस अधीक्षक श्री जे० ए० स्काट ने जबर्दस्त लाठी प्रहार का आदेश दे दिया। पुलिस के उपाधीक्षक श्री जे० पी० सांडर्स ने इस आदेश का सख्ती से पालन किया और पुलिस भीड़ पर भूखे भेड़िये के समान टूट पड़ी। उसका पहला प्रहार लाला लाजपतराय की छतरी पर हुआ,

दूसरा उनके कन्धों पर और तीसरा उनके सिर पर। श्री स्काट ने स्वयं लाठी उठाई और निर्दयतापूर्वक लाला लाजपतराय को मारने लगे। भगतसिंह यह सब देखकर उत्तेजित हो उठे। वह स्काट पर वार करने ही वाले थे कि लालाजी ने उनसे अहिंसक बने रहने के लिए कहा। अत: वह घायल लोगों की देखभाल में लग गए लेकिन नौजवान डटे रहे और अन्य लोगों के साथ मिलकर बुलन्द आवाज में 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाते रहे। उनकी आवाज से सारा आकाश गूंज उठा। वहां पूरी तरह हड़ताल थी फिर भी कुछ एक अंग्रेज-भक्तों ने प्रदर्शनकारियों के बार-बार मना करने के बावजूद भी दुकानें खोले रखीं।

साइमन कमीशन भेजे जाने के विरोध में की गई एक विशाल सभा में लाला लाजपतराय ने गरजते हुए कहा : "मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि मुझपर किये गये प्रहाराघात भारत में ब्रिटिश शासन के तावूत में ठोकी जाने वाली अन्तिम कील साबित होगी।" सभा के एकदम बाद लालाजी को अस्पताल ले जाया गया जहाँ वे इसके १८ दिन बाद, १७ नवम्बर, १९२८ को चल बसे। भगतसिंह ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा और उसका बदला 'खून के बदले खून' से लेने की कसम खाई। हाउस आफ कामन्स में कर्नल वैजवुड द्वारा उठाए गए एक संसदीय प्रश्न के उत्तर में सरकार ने लालाजी की मौत के लिए अपने को गैर-जिम्मेदार बताते हुए यह उत्तर दिया, "ऐसा कोई भी सबूत पेश नहीं किया गया जिससे साबित होता हो कि लालाजी की मृत्यु उस मौके पर लाठियों के प्रहार से हुई हो।" इस मामले की न्यायिक जांच की मांग को अस्वीकृत कर दिया गया। इसी प्रकार लालाजी की मृत्यु के सम्बन्ध में उन्होंने जनता से माफी मांगने से भी इन्कार कर दिया।

१० दिसम्बर, १९२८ की रात्रि को हिन्दुस्तान सोशलिस्टिक रिपब्लिकन आर्मी ने लाहौर में एक सभा की। इस सभा में शामिल हुए अनेक लोगों में चन्द्रशेखर आजाद, राजगुरु, सुखदेव और दुर्गावती थे जिनके पति प्रो० भगवती चरण वोहरा एक विस्फोट में उस समय मारे गये जबकि वे २८ मई, १९३० को लाहौर में रावी नदी के किनारे बम बनाने का परीक्षण कर रहे थे। यह बम विस्फोट लाहौर की पूरी सेण्ट्रल जेल में किया जाना था जिससे विस्फोट के दौरान पैदा होने वाली भगदड़ के बीच भगतसिंह को बचाया जा सके। भगतसिंह ने भावुक भाषण दिया और अपने अगले कार्यक्रम की घोषणा की। दुर्गादेवी द्वारा स्काट को खत्म करने के लिए किसी एक व्यक्ति के चुनाव के प्रस्ताव में भगतसिंह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कहा : "उसे मेरे ही हाथों मरना चाहिए"। बहुत से अन्य स्वयंसेवक भी इस काम के लिए आगे आये किन्तु यह कार्य भगतसिंह को ही सौंपा गया। राजगुरु, सुखदेव, आजाद और जयगोपाल इस कार्य में भगतसिंह की सहायतार्थ चुने गये। उसे मारने के लिए १७ दिसम्बर, १९२८

का दिन तय किया गया। एक सप्ताह तक स्काट की गतिविधियों तथा उसके कार्यालय के आस-पास जो पंजाब सिविल सचिवालय में था, कड़ी नजर रखी गई। निश्चित तारीख को वे सभी वहां गये और सचिवालय के बाहर खड़े हो गये। एक अंग्रेज बाहर आया जिसे गलती से स्काट समझकर गोली मारने का संकेत दे दिया गया। वह अंग्रेज व्यक्ति जे० पी० साइर्स था। उसके मोटर साइकल पर चढ़ते ही राजगुरु ने उस पर गोली चलाई। सांडर्स चीख मारे बिना भूमि पर गिर पड़ा। भगतसिंह दौड़कर उसके समीप आये और उन्होंने सांडर्स को पूरी तरह से खत्म करने के लिए उसके सिर पर चार-पांच गोलियां और दागी। पुलिस कान्स्टेबल वहां खड़ा यह सब देख रहा था लेकिन वह इतना डर गया था कि किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सका। उन सबके भाग जाने के बाद ही उसने खतरे का घण्टा बजाया। क्रान्तिकारी डी० ए० वी० कालेज के पिछले दरवाजे से भाग निकले।

अगले दिन सुबह के समाचार-पत्रों के साथ एक लाल पर्चा भी बांटा गया जिसमें लिखा था कि हिन्दुस्तान सोशलिस्टिक रिपब्लिकन एसोसिएशन ने लाला लाजपतराय की हत्या का बदला ले लिया है तथा राष्ट्रीय अपमान के कलंक को धो डाला है।

पर्चा इस प्रकार था :

३० करोड़ लोगों के सम्मानित नेता की एक साधारण से पुलिस कार्मिक द्वारा की गई हत्या इस राष्ट्र का अपमान था। यह भारत के युवाओं और पौरुषता के लिए एक चुनौती थी।

आज विश्व ने देख लिया है कि भारतीय कौम मुर्दा नहीं है और उनकी रगों में ठण्डा पानी नहीं बहता। अपने गौरव की रक्षा के लिए वे बड़ी से बड़ी कीमत दे सकते हैं। इस देश की उत्पीड़ित जनता की भावनाओं को ठेस मत लगाओ। अपनी गन्दी साजिशों को बन्द करो। हमें खेद है कि हमें एक व्यक्ति की हत्या करनी पड़ी किन्तु वह तो उस अमानवीय और अन्यायपूर्ण व्यवस्था का अनिवार्य अंग था जिसे नष्ट करना आवश्यक था। उसकी हत्या के द्वारा ब्रिटिश शासन के एजेण्ट को समाप्त किया गया है। हमें दुःख है कि इंसान का खून बहा है किन्तु क्रान्ति के लिए खून का बहना अनिवार्य है। हमारा उद्देश्य उस क्रान्ति को लाना है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को खत्म कर दे।

डी० ए० वी० कालेज से भगतसिंह सीधे अपने एक मित्र के यहां पहुंचे। वहां उन्होंने अपनी दाढ़ी और केश साफ किये, गरम सूट व हैट पहना और दुर्गादेवी के घर की ओर भागे जहां से भगतसिंह, राजगुरु और भाभी अपने तीन वर्षीय पुत्र के साथ तांगे में बैठकर लाहौर के रेलवे स्टेशन पर पहुंचे। वहां उन्होंने कलकत्ता जाने के लिए पहले दर्जे के ३ टिकट खरीदे और चारों ओर से प्लेट-

फार्म को घेरे हुए सैकड़ों सिपाहियों की आँखों में धूल झोंकते हुए वे लाहौर से भाग निकले। भारतीय साहब के इस छद्म वेश में कोई भी उन्हें पहचान नहीं पाया। लखनऊ के रेलवे स्टेशन से दुर्गा ने अपने पति को तार दिया कि वह अपने भाई के साथ कलकत्ता पहुँच रही है। अत: जब वे तीनों कलकत्ता पहुँचे तो भगवतीचरण उन्हें कलकत्ता रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर लेने आये हुए थे। कलकत्ता में भगतसिंह ने फैल्ट कैप पहनकर अपना एक चित्र खिंचवाया। उनका वह प्रसिद्ध चित्र बहुत लोकप्रिय हुआ। वहाँ उन्होंने कांग्रेस की बैठक में भी भाग लिया। कलकत्ता में उन्होंने पुन: दिल्ली की सेण्ट्रल असेम्बली में बम फेंकने का फैसला किया जिससे गूंगी-बहरी सरकार तक वे अपनी आवाज पहुँचा सकें। इसके लिए उन्होंने ८ अप्रैल, १९२९ का दिन चुना। उस दिन असेम्बली में जन सुरक्षा अधिनियम और मजदूर विवाद बिल प्रस्तुत किए जाने थे। बंगाल के कुछ शीर्षस्थ क्रान्तिकारियों के साथ मिलकर वे अपनी योजना पर विचार-विमर्श कर चुके थे। उन्होंने हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी के मुख्यालय आगरा में एक बम फैक्टरी की स्थापना की। जनवरी और मार्च १९२९ के बीच उन्होंने आगरा और दिल्ली के बहुत चक्कर लगाये तथा भलीभांति यह सोच लिया कि बम किस स्थान से फेंका जाएगा। ८ अप्रैल को सुबह भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने कश्मीरी गेट के रामनाथ से अपना चित्र खिंचवाया। उनका वह चित्र १८ अप्रैल, १९२९ के हिन्दुस्तान टाइम्स में छपा था। निर्धारित तिथि से दो दिन पहले भगतसिंह बैठने की व्यवस्था देखने के लिए असेम्बली में प्रवेश पाने में सफल हो गये। सरकार ने बिलों को प्रस्तुत करने का निर्णय लिया यद्यपि अधिकतर सदस्य इसके विरुद्ध थे। एक भारतीय सदस्य की सिफारिश पर दर्शकों के लिए प्रवेश-पत्र की व्यवस्था की गई। इन्स्पेक्टर टेरी, जिसने इन दोनों क्रान्तिकारियों द्वारा आत्म समर्पण किये जाने पर इन्हें गिरफ्तार किया था, के कथनानुसार वे खाकी कमीज व खाकी नेकर पहने हुए थे। अत: जब सर जार्ज शुस्टर ने सदन को यह बताया कि वाइसराय ने अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग करके उस विधेयक को पास कर दिया है जिसे सदन ने रद्द कर दिया था तो भगतसिंह और दत्त खड़े हुए, एक कदम आगे बढ़ाया और शुस्टर के पीछे बम फेंक दिया। दत्त ने थोड़ा और आगे बढ़कर दूसरा बम भी फेंक दिया तथा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाये। जार्ज शुस्टर डर गया और उसने अपनी मेज के नीचे शरण ली। भगतसिंह ने उसे डराने के लिए दुबारा उसकी मेज की ओर दो गोलियाँ छोड़ी। सभी सबूतों से यही पता चलता है कि विट्ठलभाई पटेल, मोतीलाल नेहरू, मोहम्मद अली जिन्ना और पंडित मदनमोहन मालवीय अपने-अपने स्थानों पर ही बैठे रहे। हाल में लाल पर्चे भी फेंके गये जो हिन्दुस्तान सोशलिस्ट पार्टी के थे। उनका शीर्षक था : बहरों को सुनाने के लिए विस्फोट जरूरी

है। बम विस्फोट के बाद उन्होंने आत्म समर्पण किया और शान्तिपूर्वक गिरफ्तार हो गये। दत्त को कोतवाली थाना में भेज दिया गया जबकि भगतसिंह को पार्लियामेण्ट स्ट्रीट के पुलिस स्टेशन पर ही रखा गया। इन मुकदमों की सुनवाई दिल्ली जेल के अन्दर ही श्री फुले की अदालत में शुरू हो गई। यहाँ उन दोनों ने भूख हड़ताल शुरू कर दी। उनकी माँग थी कि उन्हें युद्धबन्दियों का विशेष दर्जा दिया जाय न कि साधारण अपराधियों का। उनके साहस को देखकर सरकारी गवाहों का मनोबल इतना गिर गया कि उनमें से बहुतों ने भगतसिंह और दत्त के खिलाफ बयान देने से इन्कार कर दिया। उन दोनों को १२ जून, १९२९ को आजन्म कारावास की सजा दे दी गई। इन दो क्रान्तिकारियों द्वारा शुरू की गई भूख हड़ताल समस्त भारत में चर्चा का विषय बन गई थी। ३० जून, १९२९ का दिन पूरे देश में भगतसिंह दिवस के रूप में मनाया गया। इसी समय पुलिस ने लाहौर षड्यन्त्र के मामले की सुनवाई शुरू कर दी क्योंकि उन्हें इसमें भगतसिंह के शामिल होने के सबूत मिल गये थे। जतिनदास जेल में सुधार लाने के लिए सरकार पर जोर डाल रहे थे, इसके लिए वे मरते दम तक भूख हड़ताल पर रहे। अन्ततोगत्वा १९ फरवरी, १९३० को बलिदान और हड़तालों के फलस्वरूप सरकार ने आदेश जारी कर दिया जिसके अन्तर्गत जेल में ए, बी, सी श्रेणियाँ बनाई गई और भारतीय जेलों में किया जाने वाला जाति-भेद हमेशा के लिए समाप्त हुआ। आज तक हजारों राजनीतिक कैदियों को इसका लाभ पहुँचा है।

जब सरकारी गवाहों ने क्रान्तिकारियों के खिलाफ बयान देने से इन्कार किया तो सरकार ने एक अध्यादेश लागू किया जिसके अन्तर्गत लाहौर षड्यन्त्र काण्ड के कैदियों के खिलाफ सुनवाई के सम्बन्ध में विशेष अदालत को तत्काल निर्णय का अधिकार दिया गया। जिससे कानून की पेचीदगियों और प्रक्रियाओं की वजह से फैसले में देरी न हो सके और अबाध रूप से फैसला किया जा सके तथा सजा के खिलाफ अपील की कोई आशंका न रहे। जेल में बन्द क्रान्तिकारियों ने, जिनमें से अधिकतर भूख हड़ताल पर थे, अपने सद्-कार्यों और नम्र व्यवहार द्वारा अपने विरोधियों का दिल भी जीत लिया था।

न्यायालय द्वारा क्रान्ति का अर्थ पूछे जाने पर भगतसिंह ने उत्तर दिया, "बम और पिस्तौल के जोर पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करना ही क्रान्ति का अर्थ है—हम चाहते हैं कि क्रान्ति के द्वारा इस प्रकार की वर्तमान स्थिति को बदला जाय जो स्पष्ट रूप से अन्याय पर आधारित है।" भगतसिंह ने अदालत के माध्यम से अपने सिद्धान्तों व आदर्शों का प्रचार किया। अदालत में ही बहुत से ऐसे बयान जारी किये गये जिनसे सरकारी खर्च पर क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रचार हुआ। इस नये हथकण्डे से पुलिस और न्यायाधीश झुंझला उठे। ७ अक्तूबर, १९३० को न्यायालय ने अपना फैसला सुना दिया। यह निर्णय ५०

पृष्ठों में लिखा गया था। भगतसिंह और उनके दो सहयोगी सुखदेव और शिवराम राजगुरु को फाँसी की सजा सुना दी गई। २३ मार्च, १६३१ को उन्हें फाँसी दे दी गई। सुखदेव और राजगुरु को भी उन्हीं के साथ फाँसी दी गई। उनकी अन्तिम अभिलाषा यह थी : मैं पुनः भारत में ही जन्म लेकर मातृभूमि की सेवा करूँ।" इस बात को याद रखा जाना चाहिए कि उनके दूसरे महान क्रान्तिकारी सहयोगी मदनलाल धींगड़ा की भी यही अन्तिम इच्छा थी जिन्हें १७ अगस्त, १६०६ में लन्दन की पेण्टनविले जेल में फाँसी दे दी गई थी। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक में लिखा है, "भगतसिंह से पहले और उनके बाद के सभी शहीदों को सुबह के समय फाँसी दी गई किन्तु इन तीनों को अपवाद स्वरूप २३ मार्च की शाम को ७.३३ बजे फाँसी दी गई। इस बात को गोपनीय रखने के लिए ऐसा किया गया किन्तु जेल के साधारण कैदियों को इस बात का पता चल गया और उन्होंने नारे लगाने शुरू कर दिये। इस डर से कि कहीं आस-पास छिपे क्रान्तिकारियों के गुप्तचर यह देख न लें, जेल के पिछवाड़े की ऊँची दीवार तोड़कर उनके शवों को फिरोजपुर में औपचारिक अन्त्येष्टि के लिए ले जाया गया। वहाँ रात के अन्धकार में शवों की अन्त्येष्टि के लिए एक ही चिता तैयार की गई और थोड़े ही समय बाद उनके अधजले शवों को सतलुज में प्रवाहित कर दिया गया। पुलिस के उस दल के चले जाने के बाद गाँव वालों को पता चला कि यहाँ शवों को स्थानीय पुलिस की मिली-भगत से जलाया गया है और इस प्रकार उन्हें असलियत का पता चला। उन्होंने नदी से अधजले शवों को ढूँढ़ निकाला और चिता बनाकर सही ढंग से उनका अन्तिम संस्कार किया।"

जवाहरलाल के शब्दों में, "भगतसिंह अपने आतंकित कर देने वाले कार्यों से लोकप्रिय नहीं हुए बल्कि उन्होंने ऐसा इसलिए किया क्योंकि वे उस समय यह सिद्ध करना चाहते थे कि राष्ट्र की लाला लाजपतराय पर कितनी श्रद्धा है। वे प्रतीक मात्र बन गये। उनका साहसी कार्य बीते दिनों की याद बन गया किन्तु उनका नाम सदा के लिए अमर हो गया और कुछ हद तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उनका नाम गूँज उठा।"

भगतसिंह नवीनता और श्रेष्ठता के प्रतीक और भारत माता के गौरव-चिह्न बन गये। हृदय को छू लेने वाली उनकी जीवनगाथा और हृदय को झकझोर देने वाली उनकी मृत्यु ने उन्हें २०वीं शताब्दी का एक ऐसा असाधारण व्यक्ति बना दिया जो इन्सान होते हुए भी शेर-सा दिल रखता था। उसके लिए हार या मौत का कोई अर्थ नहीं था। जब भगतसिंह को फाँसी दी जाने लगी उस समय वे सदा की भाँति अपनी मातृभूमि के एक साधारण से व्यक्ति की तरह थे जिसके पास न कोई शक्ति थी, न सम्पत्ति थी और न ही कोई हस्ती। वह किसी भी प्रकार की शैक्षिक, साहित्यिक विशेषताओं से रहित तथा वैज्ञानिक,

बुद्धिजीवी या आध्यात्मिक उपलब्धियों से सर्वथा विहीन थे। समस्त देश उनके नि स्वार्थ बलिदान के आगे नतमस्तक था और जिस प्रकार उन्होंने भगतसिंह को श्रद्धांजलि अर्पित की वैसी श्रद्धांजलि इससे पहले या बाद में भी किसी व्यक्ति या शहीद को नहीं दी गई। इस देश की सदा से चली आ रही परम्परा को देखते हुए वह शक्ति, अखण्ड एकता और दृढ़ता के प्रतीक बन गये। जब उन्होंने लाहौर सेण्ट्रल जेल की भरी अदालत में अपने सहयोगियों के साथ 'वन्देमातरम्' की आवाज बुलन्द की, उस समय उन्होंने न केवल देशवासियों की शक्ति का आह्वान किया बल्कि उस चिरस्थायी और अमर भारत के प्राण और आत्मा का आह्वान किया जिसका सम्मान इसके प्रत्येक जागरूक देशवासी द्वारा किया जाता है। गांधीजी के शब्दानुसार, "उनके साहस का अनुमान लगाना असम्भव है। फांसी ने इन नवयुवकों को बहादुरी का मुकुट पहनाया। इन वीरों की प्रशंसा करने में मैं सदा आगे रहूँगा। यद्यपि हम उनके समान आग से नहीं खेल सकते, फिर भी उनका बलिदान, वीरता और असीम साहस प्रशंसा के योग्य है।"

भगतसिंह लहर का प्रभाव दक्षिण भारत पर भी उतना ही पड़ा जितना कि उत्तर भारत पर। इधर प्राप्त कुछ नये दस्तावेजों से यह ज्ञात हुआ है कि भगतसिंह की शहादत के कुछ ही दिनों बाद उनपर तमिल, गुजराती, उर्दू, हिन्दी, पंजाबी और सिन्धी भाषाओं में अगणित पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें से अधिकतर तत्कालीन शासन द्वारा जब्त कर ली गईं। कई कविताएँ लिखी गयीं। मद्रास, हैदराबाद और अहमदाबाद आदि शहरों में अनेक गोष्ठियाँ हुईं और 'भगतसिंह जिन्दाबाद' के नारे लगे।

जब्त-शुदा तमिल पुस्तक 'तिरूपदी री पुलिमार' (सरदार भगतसिंह चरित्रम्) १६३१, एस-सी-सी० नं० २८५४ में २३ मार्च, १६३१ को लाहौर सेण्ट्रल जेल में भगतसिंह की फांसी से दो मिनट पूर्व के दृश्य का यों वर्णन मिलता है—'जिलाधिकारी का स्वागत करते हुए भगतसिंह कहते हैं कि हमें ज्यादा खुशी होगी अगर हमें फांसी के बजाय तोप से उड़ा दिया जाए। भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव उल्लास के साथ विदा लेते हैं। सुखदेव कहते हैं कि उनकी विदाई तो केवल कुछ क्षणों के लिए ही है, क्योंकि परलोक में तो वे मिलेंगे ही और वहीं अपनी केन्द्रीय समिति की सभा जारी रखेंगे, जिसमें चन्द्रशेखर आजाद, भगवती चरण और जतिनदास भी होंगे।' देशप्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत एक तमिल गीत के अनुसार भगतसिंह किसी मनुष्य का नहीं बल्कि एक इन्कलाब का नाम है। मुझे विश्वास है कि कोई न कोई इतिहासकार किसी दिन 'भगतसिंह का दक्षिण भारत पर प्रभाव' विषय पर अपनी कलम उठाएगा और अनुसंधान करेगा।

भगतसिंह एक लेखक भी थे। जेल में भी वे डायरी लिखा करते थे। जेल में

उन्होंने इतनी ज्यादा किताबें मँगवाई कि जेल अधिकारी सेंसर करते-करते थक गए। एक बयान में उन्होंने कहा है कि भारत की गरीबी का कारण निरक्षरता है। उनके 'इन्कलाब' में अनिवार्य और नि.शुल्क शिक्षा खास तौर पर शामिल थी। टैगोर, कार्लमार्क्स और लेनिन उन्हें बहुत प्रिय थे। वर्ड्सवर्थ, टेनीसन, विक्टर ह्यूगो के भी वे प्रशंसक थे। फाँसी वाले दिन भी उनके हाथ में लेनिन की एक पुस्तक थी। भगतसिंह ने हिन्दी पत्रकार के रूप में कई समाचार-पत्रों में विभिन्न नामों से लेख लिखे हैं। 'वीर अर्जुन' में उनके क्रान्तिकारी लेख प्रायः प्रकाशित होते थे। शहीद करतारसिंह सराबा, जिन्हें २० वर्ष की अल्पायु मे फाँसी पर चढ़ा दिया गया, भगतसिंह के प्रेरणास्रोत थे। उनकी शहादत पर भगतसिंह ने अपने हिन्दी लेख में उन्हें जो श्रद्धांजलि अर्पित की है उससे हिन्दी भाषा पर उनके अधिकार और सुन्दर भाषा-शैली का भी अन्दाजा होता है। वे लिखते हैं—

'रणचण्डी के उस परमभक्त बागी करतारसिंह की आयु उस समय बीस वर्ष की भी न होने पायी थी, जब उन्होंने स्वतन्त्रतादेवी की बलिवेदी पर निज रक्तांजलि भेंट कर दी। आँधी की तरह वे एकाएक कहीं से आये, आग भड़कायी, सुषुप्त रणचण्डी को जगाने की चेष्टा की, विप्लव-यज्ञ रचा और अन्त मे उसी मे स्वाहा हो गये। वे क्या थे, किस लोक से एकाएक आ गये थे और फिर झट से किधर चले गये, हम कुछ भी समझ न सके।'

पंजाबी तो भगतसिंह की मातृभाषा ही थी। उन्होंने 'कीर्ति' नामक पंजाबी पत्रिका १६२५ में प्रारम्भ की थी फिर उर्दू मे भी उसका प्रकाशन आरम्भ किया था। इसके अलावा भगतसिंह बंगला का भी अच्छा ज्ञान रखते थे। बंगला भाषा उन्होंने बटुकेश्वर दत्त से सीखी थी। काजी नजरुल इस्लाम की प्रसिद्ध कविता 'विद्रोही' उनको कंठस्थ थी। अंग्रेजी भाषा भी वह अधिकारपूर्ण लिखते थे। अदालतों मे उनके बयान, क्रांति-घोषणा पत्र तथा अनेक अन्य लेख हैं जो अंग्रेजी भाषा मे उनकी प्रतिभा के उदाहरण के रूप में पेश किये जा सकते हैं। उर्दू भाषा और साहित्य से उन्हें बहुत प्रेम था। उनकी शिक्षा ही उर्दू माध्यम से हुई थी। उनका वह अन्तिम पत्र जो उन्होंने अपने छोटे भाई कुलतारसिंह को ८ मार्च, १६३१ को लिखा, उर्दू ही मे है। यह पत्र, जो उन्होंने फाँसी के कमरे से लिखा था, नीचे उद्धृत है—

अजीज कुलतार,

आज तुम्हारी आँखों मे आँसू देखकर बहुत रंज हुआ। आज तुम्हारी बातों मे बहुत दर्द था। तुम्हारे आँसू मुझसे बर्दाश्त नहीं होते। बरखुर्दार, हिम्मत से तालीम हासिल करते जाना और सेहत का ख्याल रखना, हौंसला रखना और क्या कहूँ ! कुछ 'शेर' लिखे हैं, सुनो।

उसे यह फिक्र है हरदम नया तर्ज़े जफा क्या है,
हमें यह शौक है देखें, सितम की इन्तिहा क्या है,
दहर से क्यों ख़फ़ा रहें, चर्ख़ का क्यों गिला करें,
सारा जहां अदू सही, आओ मुकाबला करें।
कोई दम का मेहमां हूँ ए अहले मेहफिल।
चिरागे-सहर हूँ, बुझा चाहता हूँ।
मेरी हवा में रहेगी ख्याल की बिजली,
यह मुश्ते खाक है फानी रहे, रहे न रहे।

अच्छा रुखसत, खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं। हौसले से रहना, नमस्ते।

तुम्हारा भाई
भगतसिंह

भगतसिंह का प्रभाव दूसरे लेखकों पर भी काफी पड़ा। मुंशी प्रेमचन्द पर भगतसिंह लहर की छाप स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। उन दिनों प्रेमचन्द अपना सुप्रसिद्ध उपन्यास 'कर्मभूमि' लिख रहे थे। इस उपन्यास के पात्रों पर भगतसिंह के विचारों और चिन्तन का प्रभाव भी स्पष्ट नजर आता है। उर्दू के महान कथाकार सादत हसन मन्टो ने अपने घर में भगतसिंह की मूर्ति रखी हुई थी। उनकी नयी रचनाओं के वे ही प्रेरणास्रोत रहे हैं। पंजाबी साहित्य में भगतसिंह और उनकी शहादत को पूज्य स्थान प्राप्त है।

भगतसिंह एक ऐसा क्रान्तिकारी था जिसे सीढ़ियों और सहारों की आवश्यकता नहीं थी। वह ऐसा पथिक था जो हर सफर को अपनी मंजिल और हर मंजिल को अपना सफर समझता था। सबसे बेबाक और बाँका, बागी और बहादुर।

भगतसिंह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का अमरपक्षी है, ऐसा अद्वितीय पक्षी जिसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता, जिसकी आयु एक हजार साल हुआ करती है, जिसके पूरे हो जाने पर वह बहुत सी लकड़ियाँ जमा करता है। फिर उन पर बैठकर नशे के आलम में एक अभूतपूर्व राग छेड़ देता है। अपने पंखों को मस्ती के आलम में फड़फड़ाता है और जिस समय राग दीपक पर पहुँचता है तो यकायक उन लकड़ियों को आग लग जाती है जिसमें जलकर अमरपक्षी भस्म हो जाता है। और फिर वर्षा होती है तो वह राख एक अण्डे का रूप धारण कर लेती है जिसमें कुछ देर के बाद अपने आप एक अमरपक्षी पैदा होता है। भगतसिंह ने भी अमरपक्षी की भाँति अपने बलिदानों की शक्ल में अपने लिए लकड़ियाँ इकट्ठी कीं और अपनी देशभक्ति के राग से ऐसी आग लगाई जिसमें जलकर

वह कुन्दन हो गया और उसे एक हजार साल का जीवन मिल गया।

भगतसिंह एक ऐसा नशा है जो आज भी लोगों के दिल व दिमाग मे पहले की तरह छाया हुआ है। बचपन में वह चन्द्रगुप्त और राणा प्रताप की भूमिका किया करता था। २३ साल की उम्र में फाँसी पर झूल जाने के बाद वह देश के हर क्रान्तिकारी को पीछे छोड़ गया।

भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना से बहुत पूर्व भगतसिंह साम्यवाद मे विश्वास रखते थे। वे स्वतन्त्र भारत मे ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते थे जो शोषण, गरीबी भुखमरी, निरक्षरता और साम्प्रदायिकता से मुक्त हो। असेम्बली बम केस में बयान देते हुए उन्होंने कहा था कि समाज में आधारभूत परिवर्तन आवश्यक है और यह परिवर्तन केवल वही लोग ला सकते हैं जो समाजवाद में पूर्ण विश्वास रखते हों। अगर समय पर उचित कार्रवाई न की गई तो सारी संस्कृति का ढांचा अस्तव्यस्त हो जायेगा और भव्य भवन गिर जायेगा।

भगतसिंह का इन्कलाब न तो कोरा नारा था और न बुद्धि-विलास और न ही था वह बन्द कमरों में किसी गोष्ठी या सेमिनार का नाम। यह इन्कलाब किसी आँधी या तूफान का नाम भी नहीं था। ऊपर से तो लगता है जैसे ठाठें मारता हुआ समुद्र लेकिन गौर से देखा जाए तो पता चलता है कि यह समुद्र जितना गहरा है उतना ही शान्त भी। भगतसिंह की क्रान्ति पिस्तौल या बम की संस्कृति नहीं थी और न ही उसमें हिंसात्मक संघर्षों का अनिवार्य स्थान था। भगतसिंह की क्रान्ति कल्पना की उड़ान भी नहीं थी बल्कि एक ठोस प्रोग्राम था। ६ जून, १९२९ को दिल्ली के सेशन जज की अदालत में भगतसिंह ने कहा था—'क्रान्ति में हिंसात्मक संघर्षों का अनिवार्य स्थान नहीं है, न उसमें व्यक्तिगत रूप से प्रतिशोध लेने की ही गुंजाइश है। क्रान्ति से हमारा प्रयोजन यह है कि अन्याय पर आधारित वर्तमान समाज व्यवस्था मे परिवर्तन होना चाहिए। उत्पादक अथवा श्रमिक समाज के अत्यन्त आवश्यक तत्त्व हैं तथापि शोषक लोग उन्हें श्रम के फलों और मौलिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। एक ओर सबके लिए अन्न उगाने वाले किसान भूखे मर रहे हैं, सारी दुनिया के बाजारों में कपड़े की पूर्ति करने वाले बुनकर अपने बच्चों के शरीर को ढाँपने के लिए पूरे वस्त्र प्राप्त नहीं कर पाते, भवन निर्माण, लोहारी और बढ़ईगीरी के कामों मे लगे लोग शानदार महलों का निर्माण करके भी गन्दी बस्तियों में रहते और मर जाते हैं। दूसरी ओर पूँजीपति—लोक और समाज पर घुन की तरह जीने वाले लोग—अपनी सनक पूरी करने के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा रहे हैं। यह भयंकर विषमताएँ और विकास के अवसरों की असमानताएँ समाज को अराजकता की ओर ले जा रही हैं। यह परिस्थिति सदा कायम नहीं रह सकती। यह स्पष्ट है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था एक ज्वालामुखी के मुख पर बैठी हुई

आनन्द मना रही है और शोषकों के अबोध बच्चे भी करोड़ों शोषितों के बच्चों की भांति एक खतरनाक दरार के कगार पर खड़े हैं।

'क्रान्ति से हमारा प्रयोजन अन्ततः एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसको इस प्रकार के घातक खतरों का सामना न करना पड़े और जिसमें सर्वहारा वर्ग की प्रभुता को मान्यता दी जाये।'

भगतसिंह को शहीद हुए आज ५१ वर्ष हो गये हैं। लेकिन कभी-कभी रात के सन्नाटे में यों अनुभव होता है कि वह जैसे दबे पाँव, बसन्ती चोला पहने सरफरोशी वाला गीत गुनगुनाते हुए आया है और हमारे दरवाजे के सुराख से झाँक रहा है और देख रहा है कि उसका इन्कलाब कहाँ तक पहुँचा है।

अमर शहीद सुखदेव
(१९०७-१९३१)

सुखदेव पंजाब के क्रान्तिकारियों में मूर्धन्य थे। भगतसिंह और राजगुरु के साथ उन्हें भी २३ मार्च, १९३१ को लाहौर सेण्ट्रल जेल में फांसी पर लटका दिया गया था। 'वीर प्रताप' के सम्पादक श्री वीरेन्द्र जी के शब्दों में, जिनका स्वयं का क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ निकट सम्पर्क रहा है, "१९२८ से लेकर १९३१ तक पंजाब में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन चला, सुखदेव उसकी आत्मा थे। क्रान्तिकारी पार्टी जो भी योजना बनाती थी, उसके पीछे सुखदेव का दिमाग काम करता था। वह जो भी करता था, चुपचाप। उनकी कभी भी इच्छा न थी कि उनका नाम दुनिया में चमके। वह उन शहीदों में से थे जो अपने बलिदान का कोई मूल्य नहीं मांगते थे।'

लुधियाना निवासी लाला गिरधारी लाल थापर सुखदेव के परदादा थे। लाला गिरधारीलाल के तीन पुत्र थे। मंझले पुत्र बांकामल बड़े सौभाग्यशाली थे। इन्हीं के यहाँ रामलाल ने जन्म लिया जोकि सुखदेव के पिता थे।

पिताजी लायलपुर में रहते थे और माता रल्ली देई नौघरा, लुधियाना में। १५ मई, १९०७ में नौघरा में सुखदेव का जन्म हुआ। पुत्रजन्म का समाचार पाकर पिताजी की खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा। पुत्र का मुँह देखने और परिवार को अपने पास रखने की तीव्र इच्छा जगी और माताजी शिशु को लेकर लायलपुर आ गईं। सन् १९१० में उनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। तब सुखदेव केवल तीन वर्ष के थे। लाला चिन्ताराम, तायाजी पर इनकी लालन-पालन की जिम्मेदारी आ पड़ी।

सुखदेव का बचपन बहुत सामान्य ढंग से गुजरा। वह औसत दर्जे के बच्चे की तरह थे। पढ़ने में उनकी रुचि अधिक थी। उनकी माताजी उन्हें राष्ट्र-प्रेम और देशभक्ति की कहानियाँ सुनाया करती थी। इससे उन्हें बड़ी प्रेरणा मिली। बचपन से ही वह सोचने लगे कि वह बड़ा होकर वीर, साहसी और देशभक्त

अमर शहीद सुखदेव
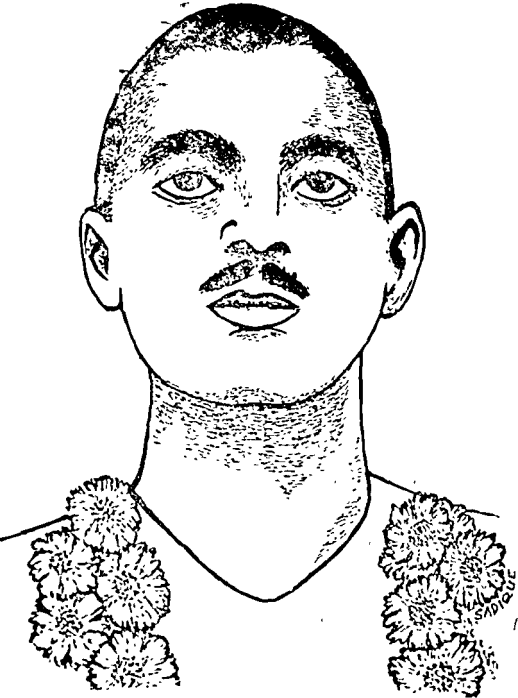
बनेगा। दीवाली पर जब सब बच्चों को पैसे मिले, उन्होंने आतिशबाजी और मिठाइयाँ खरीदी परन्तु सुखदेव को सिर्फ 'लक्ष्मीबाई' (झांसी की रानी) की तस्वीर पसन्द थी और वही उन्होंने खरीदी। झांसी की रानी उसके लिए देशभक्ति, साहस और शक्ति की प्रतीक थी।

सुखदेव बचपन से ही साहसी बालक थे। एक रोज खेलते खेलते एक बच्चा स्कूल के कुएँ में जा गिरा। सुखदेव एकदम उछल पड़े [illegible] से रस्सा लाये और इस प्रकार बच्चे की जान बच गई। १३ अप्रैल, १९१९ को सारे पंजाब में मार्शल-ला लागू कर दिया गया और स्कूलों मे अंग्रेजी अफसर तैनात कर दिये और सलामी का हुक्म हुआ। सुखदेव ने अफसर को सलामी नहीं दी। यहाँ तक कि जबतक यह काला कानून रहा, सुखदेव स्कूल नही गये।

सुखदेव ने सन् १९२२ मे सनातन धर्म स्कूल से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और कड़े संघर्ष के पश्चात् नेशनल कालेज मे दाखिल हुए। लाला लाजपतराय नेशनल कालेज के प्रमुख संस्थापकों मे से थे। कालेज का एकमात्र उद्देश्य था—भावी पीढ़ी को राष्ट्रीय चेतना से तैयार करना। भाई परमानन्द, जोकि एक राजनीतिक विद्रोह के सिलसिले में सजा काट चुके थे, कालेज की व्यवस्था भी देखते थे। वह अपने अंडमान के बन्दी जीवन की कथा सुनाते थे और छात्रों मे अंग्रेजी शासन के खिलाफ नफरत के बीज बो रहे थे। दूसरे थे प्रोफेसर जयचन्द्र विद्यालंकार जिनसे युवकों को आजादी के संघर्ष में कूदने की प्रेरणा मिली, उनमे सुखदेव और भगतसिंह प्रमुख थे। उनके पास बंगाल के क्रान्तिकारी भी आया करते थे। सुखदेव उन्हीं के माध्यम से क्रान्तिकारियो के सम्पर्क में आये। सन् १९२५ में सुखदेव बी० ए० फाइनल के छात्र थे और भगतसिंह के साथ क्रान्ति की गतिविधियों मे संलग्न रहते थे। इसी दौरान उन्होंने फ्रांस, इटली और रूस की राज्यक्रान्तियों का अध्ययन किया। भगतसिंह के बाद समाजवाद पर सबसे अधिक अगर किसी साथी ने पढ़ा और मनन किया था, तो वह सुखदेव था।

लाला चिन्ताराम के राष्ट्रीय भावना और देशभक्ति से ओतप्रोत जीवन ने भी सुखदेव का चरित्र निर्माण किया था और वह देश की आजादी के संघर्ष मे कूद पड़े थे। सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र में सक्रिय अपने ताया की राष्ट्रीयता की तीव्र भावना ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। सुखदेव का मस्तक बेहद सुलझा हुआ था। वह बहुत स्पष्टवादी थे। साफ-साफ बात करने मे उन्हें कभी झिझक नही होती थी। बाहरी व्यक्ति यदि उनके निजी मामलों मे हस्तक्षेप करता, तो वह तड़प उठते थे।

सन् १९०७ में सरकार ने नया कॉलोनी ऐक्ट पास किया। सारे पंजाब मे, खासकर लायलपुर मे, हलचल मच गई। इस ऐक्ट के अनुसार किसान अपनी जमीन पर सिर्फ खेती कर सकते थे। उन्हें यह भी अधिकार नही था कि अपनी

जमीन पर किसी किस्म की तामीर करें। पंजाब में इसका जमकर विरोध हुआ और इसी लड़ी में भगतसिंह और सुखदेव जैसे मोती भी जुड़ गये।

. सुखदेव के ताया लाला चिन्तराम थापर ने १६१८ में लायलपुर में बाकायदा कांग्रेस कमेटी की स्थापना की। रोलट ऐक्ट के खिलाफ गांधीजी ने १६ अप्रैल, १६१६ को देशभर में कारोबार बन्द कर देने का ऐलान किया। लाला चिन्तराम थापर और उनके साथियों के अथक परिश्रम से पूरा लायलपुर ही बन्द रहा। लायलपुर हमेशा शान्त रहता था। यह सब आन्दोलन लाला चिन्तराम थापर और हकीम नुरुद्दीन साहब के कारण ही था। लालाजी का चरित्र सुखदेव के लिए प्रेरणास्रोत बनता गया। कहीं न कहीं सुखदेव उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते ही रहते थे, बावजूद इसके कि उनका रास्ता शान्ति का था परन्तु राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना तो लालाजी की देन थी।

शेर परिवार में जन्म लेकर सुखदेव भी शेर ही बनते गये। लालाजी उग्र असहयोगी थे तो सुखदेव उग्र क्रान्तिकारी। उद्देश्य दोनों का एक ही था—देश को गुलामी से आजाद कराना और स्वराज्य की स्थापना करना। सुखदेव की राह सरकार के साथ प्रत्यक्ष लड़ाई की थी।

सामाजिक कुप्रथाओं, आडम्बरों, अन्धविश्वासों और सड़ी-गली राजनीतिक विचारधाराओं से वह नफरत करते थे। जब सुखदेव जवान हुए तो उनकी माँ को उनकी शादी की फिकर हुई। वह उत्तर देते थे कि मैं घोड़ी पर चढ़ने के बदले फाँसी पर चढ़ूँगा।

सुखदेव ने नेशनल कालेज में ही क्रान्ति का पथ अपनाया। कालेज के जमाने में ही १६१६ के 'मार्शल-ला', १६२०-२१ के 'असहयोग आन्दोलन' तथा 'रौलट ऐक्ट' ने इनका मन-मस्तिष्क झकझोर दिया। जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड का भी सुखदेव के दिलो-दिमाग पर गहरा असर हुआ। इसी दौरान भगतसिंह से मिलकर इन्होंने एक एच० आर० ए० (गुप्त संगठन) का पर्चा छापा। सन् १६२६ में सुखदेव, भगतसिंह और भगवतीचरण आदि ने लाहौर में 'नौजवान भारत सभा' का गठन किया। इसका वास्तविक उद्देश्य इश्तहारों, वक्तव्यों और सभाओं के द्वारा अपने विचारों को जनसामान्य तक पहुंचाना था। सन् १६१४ के प्रथम लाहौर षड्यन्त्र केस में १८ वर्षीय करतारसिंह सराबा को फांसी हुई। 'नौजवान भारत सभा' ने उनकी शहादत का उत्सव ब्रेडले हाल में बड़ी धूमधाम से मनाया। इनके नारे थे—'हिन्दुस्तान जिन्दाबाद' और 'वन्देमातरम्'। ६ सितम्बर, १६२८ को दिल्ली के फीरोजशाह कोटला किले के खण्डहरों में उत्तर भारत के क्रान्तिकारियों की एक गुप्त बैठक हुई। सुखदेव और भगतसिंह के जोर लगाने पर सम्पूर्ण संगठन का नाम 'हिन्दोस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी' रखने का प्रस्ताव रखा गया। भगतसिंह दल के राजनीतिक नेता थे और सुखदेव

संगठनकर्ता। इनका उद्देश्य था देश को आजाद कराना न कि आतंक फैलाना। ये देश को गुलामी के पंजे से बचाने के लिए सिर पर कफन बाँध चुके थे।

इधर लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में एक विराट् प्रदर्शन हुआ जिसमें लाला लाजपतराय को लाठियों का शिकार बनाया गया। क्रान्तिकारियों को यह बरदाश्त नहीं हुआ और १७ नवम्बर, १९२८ को लालाजी की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय बदला चुकाने के लिए एक योजना बनाई गई जिसके सूत्रधार थे स्वयं सुखदेव। इन्होंने भगतसिंह और राजगुरु के साथ मिलकर पंजाब केसरी लाला लाजपतराय की मौत का बदला चुकाने के लिए सुपरिटेंडेंट स्काट के वध की योजना बनाई। चूँकि निश्चित दिन स्काट की जगह सांडर्स पुलिस पार्टी का नेतृत्व कर रहा था, उसका वध कर दिया गया। और जे० पी० सांडर्स से लाजपत राय की हत्या का बदला ले लिया गया। सारे देश में सनसनी फैल गई और पुलिस और भी चौकस हो गई।

सुखदेव अक्सर कहते थे कि क्रान्ति के पाठ में अहिंसा का कोई स्थान नहीं। विदेशी शासन की जड़ें हिलाने के लिए उन्होंने बम बनाने पर जोर दिया और ३० रुपये की एक पिस्टल खरीदी। सुखदेव हमेशा हथियारों से खेलते थे। इस प्रकार वह बम बनाने की योजना में लीन रहते। अन्त में बम बनाने में इनकी सर्वप्रथम भूमिका थी।

दल की केन्द्रीय समिति में निश्चय किया गया कि दिल्ली असेम्बली में बम फेंका जाय। यह बैठक १९२९ के मार्च महीने में हुई। दिल्ली की असेम्बली में सरकार दो दमनकारी कानून पास करवाना चाहती थी। ये कानून थे—ट्रेड डिस्प्यूट ऐक्ट (औद्योगिक विवाद कानून) और पब्लिक सेफ्टी बिल (सार्वजनिक सुरक्षा कानून)। वास्तव में इन दोनों कानूनों को बनाने का असली उद्देश्य भारत की जनता को अपनी नागरिक स्वतन्त्रता के लिए सिर उठाने से रोकना था। औद्योगिक विवाद कानून के तहत सरकार मजदूरों से हड़ताल के अधिकार छीनना चाहती थी जबकि सार्वजनिक सुरक्षा कानून की आड़ में वह राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलना चाहती थी।

इसी सिलसिले में केन्द्रीय समिति की बैठक बुलाई गई और तय हुआ कि असेम्बली में जिस दिन बिलों पर वायसराय की स्वीकृति की घोषणा की जाने वाली हो, उसी दिन बम-विस्फोट करके बहरी सरकार के कान खोल दिए जाएँ और जनता के प्रतिरोध की सच्ची आवाज उन तक पहुँचाई जाए। सुखदेव चाहते थे कि भगतसिंह बम-विस्फोट के लिए अवश्य ही जाएँ और इन्होंने केन्द्रीय समिति में अपनी बात मनवा ली।

अप्रैल १९२९ का दिन था। यह वह दिन था जब असेम्बली में 'ट्रेड डिस्प्यूट ऐक्ट' तथा 'पब्लिक सेफ्टी बिल' वायसराय के अपने विशेषाधिकार द्वारा स्वीकृत

कर लिये जाने की घोषणा होनी थी। इसके पूर्व सदन दोनों कानूनों को बहुमत से निरस्त कर चुका था। यह दिन एक इतिहास बन गया। यही दिन था जब भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने विश्व को अपने दुःसाहस का परिचय दिया। भारत के दोनों वीर सपूतों ने ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षित असेम्बली में बम विस्फोट करके चौकसी के सारे कीर्तिमान को ध्वस्त कर बहरी सरकार के कान खोल दिये थे। सारी असेम्बली में भगदड़ मच गई। केवल पं० मोतीलाल नेहरू, मोहम्मद अली जिन्ना और पं मदनमोहन मालवीय ही अपनी बेंचों पर बैठे हुए नजर आ रहे थे। बम विस्फोट के बाद भी भगतसिंह और दत्त शान्त भाव से खड़े रहे। दोनों के मुख से जोशीले नारे गूंजने लगे—'इंकलाब जिन्दाबाद' और 'साम्राज्यवाद का नाश हो'। इसके साथ ही सदन में लाल रंग के पर्चे फेंके गये जिनकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—बहरों को सुनाने के लिए धमाके की आवश्यकता है। जब भगतसिंह ने अपना पिस्तौल एक डेस्क पर रख दिया तो अंग्रेज पुलिस अफसरों ने भगतसिंह और दत्त को गिरफ्तार कर लिया। असेम्बली बम काण्ड ने जनता के दिलों में क्रान्तिकारियों के प्रति गहरी और अपार सहानुभूति भर दी थी।

वास्तव में पुलिस किसी बहाने की तलाश में थी, जिससे कि क्रान्तिकारियों को फँसाया जाए। गुरुदेव और किशोरी लाल के अतिरिक्त एक तीसरा व्यक्ति भी था जो यह जानता था कि गुलाम रसूल कारादिये की दुकान पर बमों से सम्बन्धित कुछ पुरजे बनाये जाते हैं। हैड कांस्टेबल नूरशाह ने अपने दोस्त जलालुद्दीन की सहायता से बम फैक्टरी की सू लगा ली। इस प्रकार कश्मीर बिल्डिंग की बम फैक्टरी से गुरुदेव, किशोरीलाल और जयगोपाल को गिरफ्तार कर लिया। और शेष सभी लोग १५ अप्रैल, १९२९ को सुबह मुँहअँधेरे ही गिरफ्तार कर लिये गये। अपनी गिरफ्तारी के समय गुरुदेव ने कोई कागज मुँह में डालकर निगलने की कोशिश की थी जिसे नष्ट न किया जाता तो पार्टी को नुकसान होता और ऐसा करने में गुरुदेव सफल हुए। हालांकि बम फैक्टरी से पुलिस को बहुत कुछ हाथ लगा। इधर सहारनपुर की बम फैक्टरी १३ मई, १९२९ को पकड़ी गई और इसके साथ ही शिव वर्मा, गयाप्रसाद निगम और जयदेव कपूर गिरफ्तार कर लिये गये। लाहौर बम फैक्टरी के साथ इस फैक्टरी का पकड़ा जाना दल के लिए भारी आघात साबित हुआ। गुरुदेव क्रान्तिकारी पार्टी की पंजाब शाखा के प्रमुख थे। क्रान्ति में शरीक होने से लेकर गिरफ्तारी तक उनका सारा जीवन क्रान्तिमय था।

गुरुदेव ने जो क्रान्ति का रास्ता चुना था, वह काँटों से भरा था। वे जानते थे कि इसका अन्त पुलिस की गोली या फाँसी के फन्दे के साथ होगा। फाँसी से पूर्व गुरुदेव ने महात्मा गांधी के नाम एक ऐसी चिट्ठी लिखी जिसमें उन्होंने अपने

अदम्य साहस का परिचय इस प्रकार दिया—"लाहौर षड्यन्त्र केस के तीन राजबन्दी जिन्हें फाँसी का हुक्म हुआ है और जिन्हें संयोगवश देश में बहुत ख्याति प्राप्त हुई है क्रान्तिकारी दल के सब कुछ नहीं हैं। दल के सामने केवल इन्हीं के भाग्य का प्रश्न नहीं है। वास्तव में इनकी सजाओं को बदल देने से देश का उतना कल्याण नहीं होगा, जितना उन्हें फाँसी पर लटकाने से।"

सुखदेव तो फाँसी पर चढ़ जाने से ही देश का कल्याण मानते थे। ९ फरवरी, १९३० को सुखदेव ने भारतीय जेलों के सुधार के लिए जेल में दूसरी भूख हड़ताड़ की जिसके फलस्वरूप जेल में सुधार के लिए सरकार को कदम उठाने पड़े।

आखिर अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने ७ अक्तूबर, १९३० को सुखदेव, भगतसिंह और राजगुरु को फाँसी की सजा का फैसला सुनाया। और २३ मार्च, १९३१ को सुखदेव अपने साथियों के साथ फाँसी पर चढ़ गये और देश की सन्तान बन गये। फाँसी पर लटकने से पूर्व उनके मुख से ये शब्द निकले—

दिल से निकलेगी न मर के भी वतन की उलफत,
मेरी मिट्टी से भी खुशबू-ए-वतन आयेगी।

सुखदेव के साथ इतिहास में इन्साफ नहीं हुआ। सुखदेव के भाई मथुरादास ने अपनी किताब 'अमर शहीद सुखदेव' (१९८०) में लिखा है कि "सुखदेव की फाँसी के बाद से अब तक जो कुछ लिखा गया, उसमें से अधिकांश में उन मुद्दों, तथ्यों तथा विवादों को या तो छोड़ दिया गया या फिर तोड़-मरोड़कर अर्थ को अनर्थ कर दिया गया।"

'वीर प्रताप' के सम्पादक श्री वीरेन्द्र जी के शब्दों में, जिनका क्रान्तिकारी आन्दोलन से निकट का सम्पर्क रहा है—"१९२८ से लेकर १९३१ तक पंजाब में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन चला, सुखदेव उसकी आत्मा थे। इसमें सन्देह नहीं कि भगतसिंह का नाम बहुत चमका। उसका एक बड़ा कारण यह था कि भगतसिंह को लिखने और बोलने का बहुत शौक था। अपनी पार्टी के दृष्टिकोण को जिस तरह वह पेश कर सकता था और कोई न कर सकता था। लेकिन उनकी क्रान्तिकारी पार्टी अपनी जो भी योजना बनाती थी, उसके पीछे सुखदेव का दिमाग काम करता था। वह जो कुछ भी करता था, चुपचाप। उसकी कभी भी यह इच्छा नहीं हुई थी कि दुनिया में उसका नाम चमके। वह अपने आपको देश के लिए इस तरह मिटा देना चाहता था कि कोई उसका नाम लेने वाला भी न रहे। वह उन शहीदों में से था जो अपने बलिदान का कोई भी मूल्य नहीं माँगते।"

गांधीजी के नाम सुखदेव की 'एक खुली चिट्ठी' और उसके उत्तर में गांधीजी का पत्र, जोकि 'हिन्दी नवजीवन', ३० अप्रैल, १९३१ के अंक में पृष्ठ १०९ से ११२ पर प्रकाशित हुए थे, उन्हें ज्यों का त्यों यहाँ दिया गया है—

एक खुली चिट्ठी

परम कृपालु महात्माजी,

ताजी खबरों से मालूम होता है कि समझौते की बातचीत की सफलता के बाद आपने क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को फिलहाल अपना आन्दोलन बन्द कर देने और आपको अपने अहिंसावाद को आजमा देखने का आखिरी मौका देने के लिए कई प्रकट प्रार्थनाएँ की हैं। वस्तुतः किसी आन्दोलन को बन्द करना केवल आदर्श या भावना से होने वाला काम नहीं है। भिन्न-भिन्न अवसरों की *आवश्यकताओं का विचार ही अगुआओं को उनकी युद्धनीति बदलने के लिए* विवश करता है।

माना कि सुलह की बातचीत के दरम्यान, आपने इस ओर एक क्षण के लिए भी न तो दुर्लक्ष्य किया, न इसे छिपा ही रखा कि यह समझौता अन्तिम समझौता न होगा। मैं मानता हूँ कि सब बुद्धिमान लोग बिल्कुल आसानी के साथ यह समझ गये होंगे कि आपके द्वारा प्राप्त तमाम सुधारों का अमल होने लगने पर भी कोई यह न मानेगा कि हम मंजिले-मक्सूद पर पहुँच गये हैं। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता जब तक न मिले, तब तक बिना विराम के लड़ते रहने के लिए महासभा लाहौर के प्रस्ताव से बँधी हुई है। उस प्रस्ताव को देखते हुए मौजूदा सुलह और समझौता सिर्फ कामचलाऊ युद्ध-विराम है, जिसका अर्थ यही होता है कि आने वाली लड़ाई के लिए अधिक बड़े पैमाने पर अधिक अच्छी सेना तैयार करने के लिए यह थोड़ा विश्राम है। इस विचार के साथ ही समझौते और युद्ध-विराम की शक्यता की कल्पना की जा सकती है और उसका औचित्य सिद्ध हो सकता है।

किसी भी प्रकार का युद्ध-विराम करने का उचित अवसर और उसकी शर्तें ठहराने का काम तो उस आन्दोलन के अगुआओं का है। लाहौर वाले प्रस्ताव के रहते हुए भी आपने सक्रिय आन्दोलन बन्द रखना उचित समझा है, तो भी यह प्रस्ताव तो कायम ही है। इसी तरह 'हिन्दुस्तानी सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी' के नाम से ही साफ पता चलता है कि क्रान्तिकारियों का आदर्श समाजसत्तावादी प्रजातन्त्र की स्थापना करना है। यह प्रजातन्त्र मध्य का विश्राम नहीं है। उनका ध्येय प्राप्त न हो और आदर्श सिद्ध न हो, तब तक वे लड़ाई जारी रखने के लिए बँधे हुए हैं। परन्तु बदलती हुई परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार वे अपनी युद्ध-नीति बदलने को तैयार होंगे। क्रान्तिकारी युद्ध जुदा-जुदा मौकों पर जुदा-जुदा रूप धारण करता है। कभी वह प्रकट होता है, कभी गुप्त, कभी केवल आन्दोलन रूप में होता है और कभी जीवन-मरण का भयानक संग्राम बन जाता है। ऐसी दशा में क्रान्तिकारियों के सामने अपना आन्दोलन बन्द करने के लिए विशेष कारण होने चाहिए। परन्तु आपने ऐसा कोई निश्चित विचार प्रकट नहीं किया।

निरी भावपूर्ण अपीलों का क्रान्तिवादी युद्ध में कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, हो नही सकता।

आपके समझौते के बाद आपने अपना आन्दोलन बन्द किया है, और फलस्वरूप आपके सब कैदी रिहा हुए हैं। पर क्रान्तिकारी कैदियों का क्या? १९१५ ई० से जेलों में पड़े हुए गदर पक्ष के बीसों कैदी सजा की मियाद पूरी हो जाने पर भी अबतक जेलों में सड़ रहे हैं। मार्शल ला के बीसों कैदी आज भी जिन्दा कब्रों मे दफनाए पड़े हैं। यही हाल बब्बर अकाली कैदियों का है। देवगढ़, काकोरी, मछुआ बाजार और लाहौर षड्यन्त्र के कैदी अब तक जेल की चहारदीवारी मे बन्द पड़े हुए बहुतेरे कैदियो में से कुछ हैं। लाहौर, दिल्ली, चटगाँव, बम्बई, कलकत्ता और अन्य जगहों मे कोई आधे दर्जन से ज्यादा षड्यन्त्र के मामले चल रहे हैं। बहुसंख्यक क्रान्तिकारी भागते फिरते हैं और उनमें कई तो स्त्रियाँ है। सचमुच आधी दर्जन से अधिक कैदी फाँसी पर लटकने की राह देख रहे हैं। इन सबका क्या? लाहौर षड्यन्त्र केस के सजायाफ्ता तीन कैदी, जो सौभाग्य से मशहूर हो गये हैं और जिन्होंने जनता की बहुत अधिक सहानुभूति प्राप्त की है, वे कुछ क्रान्तिकारी दल का बड़ा हिस्सा नहीं हैं। उनका भविष्य ही उस दल के सामने एकमात्र प्रश्न नहीं है। सच पूछा जाय तो उनकी सजा घटाने की अपेक्षा उनके फाँसी पर चढ़ जाने से ही अधिक लाभ होने की आशा है।

यह सब होते हुए भी आप उन्हें अपना आन्दोलन बन्द करने की सलाह देते हैं। वे ऐसा क्यों करें? आपने कोई निश्चित वस्तु की ओर निर्देश नही किया है। ऐसी दशा में आपकी प्रार्थनाओं का यही मतलब होता है कि आप इस आन्दोलन को कुचल देने मे नौकरशाही की मदद कर रहे हैं, और आपकी विनती का अर्थ उनके दल को द्रोह, पलायन और विश्वासघात का उपदेश करना है। यदि ऐसी बात नही है, तो आपके लिए उत्तम तो यह था कि आप कुछ अग्रगण्य क्रान्तिकारियों के पास जाकर उनसे सारे मामले के बारे मे बातचीत कर लेते। अपना आन्दोलन बन्द करने के बारे में पहले आपको उनकी बुद्धि की प्रतीति करा लेने का प्रयत्न करना चाहिए था। मैं नही मानता कि आप भी इस प्रचलित पुरानी कल्पना में विश्वास रखते हैं कि क्रान्तिकारी बुद्धिहीन हैं, विनाश और संहार में आनन्द मानने वाले हैं। मैं आपको कहता हूँ कि वस्तुस्थिति ठीक इसकी उल्टी है, वे सदैव कोई भी काम करने से पहले उसका खूब सूक्ष्म विचार कर लेते हैं, और इस प्रकार वे जो जिम्मेदारी अपने माथे लेते हैं, उनका उन्हें पूरा-पूरा ख्याल होता है। और क्रान्ति के कार्य मे दूसरे किसी भी अंग की अपेक्षा वे रचनात्मक अंग को अत्यन्त महत्त्व का मानते हैं, हालाँकि मौजूदा हालत में अपने कार्यक्रम के संहारक अंग पर डटे रहने के सिवा और कोई चारा उनके लिए नहीं है।

उनके प्रति सरकार की मौजूदा नीति यह है कि लोगों की ओर से उन्हें अपने

आन्दोलन के लिए जो महानुभूति और सहायता मिली है, उससे वंचित करके उन्हें कुचल डाला जाए। अकेले पड जाने पर उनका शिकार आसानी से किया जा सकता है। ऐसी दशा मे उनके दल मे बुद्धि-भेद और शिथिलता पैदा करने वाली कोई भी भावपूर्ण अपील एकदम बुद्धिमानी से रहित और क्रान्तिकारियो को कुचल डालने मे सरकार की सीधी मदद करने वाली होगी।

इसलिए हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि या तो आप कुछ क्रान्तिकारी नेताओ से बातचीत कीजिए—उनमे से कई जेलो मे हैं—और उनके साथ सुलह कीजिये या ये सब प्रार्थनाएँ बन्द रखिए। कृपा कर हित की दृष्टि मे इन दो मे से कोई एक रास्ता चुन लीजिए और सच्चे दिल से उस पर चलिए। अगर आप उनकी मदद न कर सकें, तो मेहरबानी करके उनपर रहम करें। उन्हे अलग रहने दें। वे अपनी हिफाजत आप अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। वे जानते है कि भावी राजनीतिक युद्ध मे सर्वोपरि स्थान क्रान्तिकारी पक्ष को ही मिलने वाला है। लोक-समूह उनके आसपास इकट्ठा हो रहा है, और वह दिन दूर नही है, जब ये जन-समूह को अपने झण्डे तले, समाजसत्ता के प्रजातन्त्र के उम्दा और भव्य आदर्श की ओर ले जाते होगे।

अथवा अगर आप सचमुच ही उनकी सहायता करना चाहते हो, तो उनका दृष्टिबिन्दु समझ लेने के लिए उनके साथ बातचीत करके इस सवाल की पूरी तफसीलवार चर्चा कर लीजिए।

आशा है आप कृपा करके उक्त प्रार्थना पर विचार करेंगे और अपने विचार सर्वसाधारण के सामने प्रकट करेंगे।

आपका
अनेको मे से एक

महात्मा जी का पत्र सुखदेव के नाम

'अनेकों में से एक'

'अनेको मे से एक' का लिखा हुआ पत्र स्वर्गीय सुखदेव का पत्र है। श्री सुखदेव भगतसिंह के साथी थे। वह पत्र उनकी मृत्यु के बाद मुझे दिया गया था। समया-भाव के कारण मैं इसे जल्दी ही प्रकाशित न कर सका। बिना किसी परिवर्तन के ही वह अन्यत्र दिया गया है।

लेखक 'अनेको मे से एक' नही है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए फांसी को गले लगाने वाले अनेक नही होते। राजनीतिक खून चाहे जितने निंद्य हो, तो भी जिस देशप्रेम और साहस के कारण ऐसे भयानक काम किये जाते हैं, उनकी कद्र किये बिना नही रहा जा सकता। और, हम आशा रखे कि राजनीतिक खूनियो का

सम्प्रदाय बढ़ नहीं रहा है। यदि भारतवर्ष का प्रयोग सफल हुआ, और होना ही चाहिए, तो राजनीतिक खूनियों का पेशा सदा के लिए बन्द हो जाएगा। मैं स्वयं तो इसी श्रद्धा से काम कर रहा हूँ।

लेखक यह कहकर मेरे साथ अन्याय करते हैं कि क्रान्तिकारियों से उनका आन्दोलन बन्द कर देने की भावनापूर्ण प्रार्थनाएँ करने के सिवा मैंने और कुछ नहीं किया है। उलटे, मेरा दावा तो यह है कि मैंने उनके सामने नग्न सत्य रखा है, जिसका इन स्तम्भों में भी कई बार जिक्र हो चुका है, और तो भी फिर से दोहराया जा सकता है—

१. क्रान्तिवादी आन्दोलन ने हमें हमारे ध्येय के समीप नहीं पहुँचाया।
२. उसने देश के फौजी खर्च में वृद्धि करवाई।
३. उसने बिना किसी भी प्रकार का लाभ पहुँचाए सरकार के लिए प्रतिहिंसा के कारण पैदा किये हैं।
४. जब-जब क्रान्तिवादी खून हुए हैं, तब-तब कुछ समय के लिए उन-उन स्थानों के लोग नैतिक बल खो बैठे हैं।
५. उसने जन-समूह की जागृति में कुछ भी हाथ नहीं बँटाया।
६. लोगों पर उसका जो दोहरा बुरा असर पड़ा है, वह यह है कि आखिरकार उन्हें अधिक खर्च का भार और सरकारी क्रोध के अप्रत्यक्ष फल भोगने पड़े हैं।
७. क्रान्तिवादी खून भारत भूमि में फूल-फल नहीं सकते, क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय परम्परा राजनीतिक हिंसा के विकास के लिए प्रतिकूल है।
८ यदि क्रान्तिवादी लोकसमूह को अपनी पद्धति की ओर आकर्षित करना चाहते हों, तो उनके लोगों में फैलने और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।
९ अगर हिंसावाद कभी लोकप्रिय हुआ भी, तो जैसा दूसरे देशों में हुआ है, वह उलटकर हमारा ही संहार किये बिना नहीं रहेगा।
१०. इसके विपरीत दूसरी पद्धति अर्थात् अहिंसा की शक्ति का स्पष्ट प्रदर्शन क्रान्तिकारी देख चुके हैं। उनकी छुट-पुट हिंसा के और अहिंसा के उपासक कहलाने वालों की समय-असमय की हिंसा के रहते हुए भी अहिंसा टिकी रही है।
११. जब मैं क्रान्तिवादियों से कहता हूँ कि उनके आन्दोलन से अहिंसा के आन्दोलन को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा है, यही नहीं, उलटे उसने इस आन्दोलन को नुकसान पहुँचाया है, तो उन्हें मेरी बात को मंजूर करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मैं यों कहूँगा कि अगर मुझे पूरा-पूरा शान्त वातावरण मिला होता, तो हम अब तक अपने ध्येय को पहुँच चुके होते।

मैं दावे के साथ कहता हूँ कि यह नग्न सत्य है, भावप्रधान बिनती नहीं। पर प्रस्तुत लेखक तो क्रान्तिकारियों से मेरी प्रकट प्रार्थनाओं पर ऐतराज करते हैं। और कहते हैं कि इस तरह मैं उनके आन्दोलन को कुचल डालने में नौकरशाही की मदद करता हूँ। पर नौकरशाही को उस आन्दोलन का मुकाबला करने के लिये मेरी मदद की जरा भी जरूरत नहीं है। वह तो क्रान्तिवादियों की तरह मेरे विरुद्ध भी अपनी हस्ती के लिये लड़ रही है। वह हिंसक आन्दोलन की अपेक्षा अहिंसक आन्दोलन में अधिक खतरा देखती है। हिंसक आन्दोलन का मुकाबला करना वह जानती है। अहिंसा के सामने उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है। यह अहिंसा तो पहले ही उसकी नींव को झकझोर चुकी है।

दूसरे, राजनीतिक खून करने वाले अपनी भयानक प्रवृत्ति का आरम्भ करने से पहले ही उसकी कीमत कूत लेते हैं। यह सम्भव ही नहीं कि मेरे किसी भी काम से उनका भविष्य अधिक खराब हो सकता है।

और, क्रान्तिकारी दल को गुप्त रीति से काम करना पड़ता है, ऐसी दशा में उसके गुप्तवास करने वाले सदस्यों को प्रकट रूप से प्रार्थना करने के सिवा मेरे सामने दूसरा मार्ग ही खुला नहीं है। साथ ही इतना कह देता हूँ कि मेरी प्रकट प्रार्थनाएँ एकदम व्यर्थ नहीं हुई हैं। भूतकाल के बहुतेरे क्रान्तिकारी आज मेरे साथी बने हैं।

इस खुली चिट्ठी में यह शिकायत है कि सत्याग्रही कैदियों के सिवा दूसरे कैदी नहीं छोड़े गये। इन दूसरे कैदियों के छुटकारे का आग्रह करना क्यों अशक्य था, इसके कारणों को मैं इन पृष्ठों में समझा चुका हूँ। मैं स्वयं तो उनमें से हर एक का छुटकारा चाहता हूँ। उन्हें छुड़ाने की मैं भरसक कोशिश करने वाला हूँ। मैं जानता हूँ कि उनमें से कई तो बहुत पहले ही छूट जाने चाहिए थे। महासभा ने इस सम्बन्ध में ठहराव किया है। कार्य समिति ने श्री नरीमान को ऐसे सब कैदियों की नामावली तैयार करने का काम सौंपा है। उन्हें सब नामों के मिलते ही उन कैदियों को छुड़ाने के लिए कार्यवाही की जाएगी। पर जो बाहर हैं, उन्हें क्रान्तिकारी हत्याएँ बन्द करके इसमें मदद करनी चाहिए। दोनों काम साथ-साथ नहीं किये जा सकते। हाँ, ऐसे राजनीतिक कैदी जरूर हैं, जिनकी मुक्ति किसी भी हालत में होनी ही चाहिए। मैं तो सब किसी को, जिनका इन बातों से सम्बन्ध है, यही आश्वासन दे सकता हूँ कि इस ढिलाई का कारण इच्छा का अभाव नहीं है, बल्कि शक्ति की कमी है। यह याद रहे कि अगर कुछ ही महीनों में अन्तिम सुलह हुई, तो उस वक्त तमाम राजनीतिक कैदी जरूर ही रिहा होंगे। अगर सुलह नहीं हुई, तो जो दूसरे राजनीतिक कैदियों को छुड़ाने की कोशिश में लगे हैं, वे खुद ही जेलों में जा बैठेंगे।

—मोहनदास करमचन्द गांधी

शहीद ऊधमसिंह

(१८९९-१९४०)

ऊधमसिंह का जन्म २० दिसम्बर, १८९९ को पंजाब के सगरूर जिले में सुनाम स्थान पर हुआ। उनकी माता का देहान्त दो वर्ष की उम्र में ही गया था। कुछ समय बाद जब वे केवल ७ वर्ष के थे, उनके पिता सरदार निहाल सिंह उन्हें अनाथ छोड़कर चल बसे। उनके सम्बन्धियों में से किसी ने भी उनकी आर्थिक सहायता नहीं की। विवश होकर ऊधमसिंह को अपने छोटे भाई साधूसिंह के साथ एक गाँव से दूसरे गाँव में सहारे के लिए भटकना पड़ा। अन्त में सुनाम के तत्कालीन सुप्रसिद्ध समाज-सेवी सरदार चन्दासिंह ने उनकी मदद की और अमृतसर के पुतलीघर स्थान पर स्थित अनाथालय में उन्हें भर्ती करा दिया। इस अनाथालय में रहकर उन्होंने अपनी मातृभाषा पंजाबी का ज्ञान प्राप्त किया। साथ-साथ उर्दू और हिन्दी लिखना भी वे सीख गए। कालान्तर में वे अच्छी अंग्रेजी भी सीख गए थे। किन्तु उनकी आजीविका का साधन हाथ की कारीगरी था।

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में पंजाब की जनता में असन्तोष व्याप्त था। पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल एबटसन ने १९०७ में वायसराय को जो रिपोर्ट दी थी, उसने स्थिति को और अधिक विद्रोहपूर्ण बना दिया। इस रिपोर्ट में पंजाब में फैली 'नयी हवा' का उल्लेख था और भारत सरकार को यह चेतावनी दी गयी थी कि यदि इस समय स्थिति को सँभालने के लिए कड़े कदम नहीं उठाए गए तो पंजाब की हालत काबू से बाहर हो जाएगी। पंजाब के किसान भी सरकार द्वारा नहरों पर लगाए गए अतिरिक्त करों से बहुत असन्तुष्ट थे। शहरी जनता भी प्रगतिशील आन्दोलनों से प्रभावित हो रही थी। सारे पंजाब में हड़तालें हो रही थीं और कई जगह के दंगे यह जाहिर करते थे कि प्रदेश की हालत बिगड़ी हुई है। अमृतसर जोकि शान्तिप्रिय स्थान माना जाता था, अनायास स्वतन्त्रता संग्राम का केन्द्र बन गया और स्वाधीनता के लिए कहीं-कहीं कई गुप्त कार्य प्रारम्भ हो गये। सारे प्रान्त में विद्रोह की लहर फैली हुई थी और सम्बन्धित

अधिकारी चिन्तित थे।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) समाप्त हो चुका था। किन्तु भारत की जनता को कोई राहत नहीं मिली थी। इसके विपरीत सरकार के शिकंजे जनता के दमन के लिए और भी कस गए थे। शासन भारत सुरक्षा-कानून लागू करना चाहता था और यह कहा जा रहा था कि शान्ति के लिए इसका उपयोग किया जा रहा है। उदारवादी दृष्टि से कानून लागू करने के बजाय सरकार और भी अधिक सख्ती बरत रही थी और भारतीय दंड-विधान के कानून में संशोधन की गुंजाइश बताते हुए रौलट एक्ट के नाम से उसे लागू करने का प्रस्ताव था। यह कानून उस समिति के अध्यक्ष के नाम पर रखा गया था जिसने कि भारतीय जनता की सुरक्षा के लिए अपनी सिफारिशें पेश की थीं। साथ ही युद्ध के बाद की तीन विभीषिकाओं—अनाज की कमी, बीमारियों और अकाल ने भारत को विक्षुब्ध कर दिया था। पंजाब के किसानों को दबाने के जो प्रयास हुए उससे जनमानस में अंगारे दहकने लगे। इन नये कानूनों ने जनता को और भी क्रुद्ध कर दिया। इसका सीधा परिणाम रहा 'सत्याग्रह'—दमन के विपरीत एक नया शस्त्र जो महात्मा गांधी ने उनको सौंपा था। गांधीजी उसी समय दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे और उनकी उम्र केवल ४९ वर्ष की थी। 'स्वराज्य' का मंत्र यहीं से हवा में उच्चरित हुआ था और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नयी दिशा प्राप्त हुई थी।

जलियांवाला बाग में १३ अप्रैल, १९१९ को जो भीषण नरसंहार हुआ था उसने ऊधमसिंह के जीवन में एक आमूल परिवर्तन पैदा कर दिया। उस दिन वे १९ वर्ष ४ माह और १८ दिन के थे। उनका मित्र भगतसिंह मात्र १२ वर्ष का था।

यह ऐसी खूनी बैसाखी थी जिसकी याद आज भी भारत की जनता को उद्विग्न कर देती है। सच यह है कि यह वह दिन था कि जब इंग्लैण्ड अपना साम्राज्य हार गया था। यह घटना इस बात की साक्षी है कि अंग्रेजी हुकूमत अपने साम्राज्यवादी हथकण्डों को कितने निम्न स्तर तक ले जा सकती थी। इसके बाद दमन का चक्र प्रारम्भ हो गया और साथ ही हमारे देश के क्रान्तिकारियों ने साम्राज्यवाद की चुनौतियां सहने के लिए अपने को पूरी तरह तैयार कर लिया। श्री बांके दयाल और मौलवी अब्दुल हक द्वारा गाया जाने वाला विप्लव गान "पगड़ी संभाल ओ जट्टा" जलियांवाला बाग की दुर्घटना के पश्चात् पंजाब में इतना प्रसिद्ध हो गया था कि सरकार इसपर प्रतिबन्ध लगाना चाहती थी। जलियांवाला बाग की इस दुर्घटना से सम्बन्धित जो 'बैसाखी' साहित्य इस समय लिखा गया उसने एक बड़ा प्रतिपक्ष तैयार कर दिया। प्रत्येक वर्ष बैसाखी के दिन जलियांवाला बाग में सभाएं जुड़ती थीं और अपने देश की स्वतन्त्रता और

शहीद ऊधमसिंह
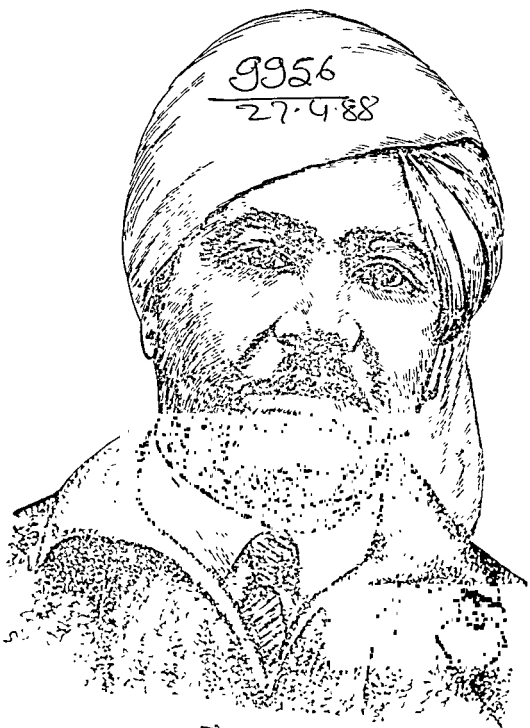
ब्रिटिश हुकूमत के पंजो से मुक्ति की शपथ ली जाती थी। ऊधमसिंह ने भी इसी दिन यह शपथ ली थी और प्रत्येक बैसाखी को उसे दोहराता था।

सारांश रूप मे जलियावाला की इस दुर्घटना के तीन प्रमुख पात्र थे—सर माइकल ओ'डायर, पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर, ब्रिगेडियर जनरल इ० एच० डायर, भारत मे पैदा हुए अंग्रेजी सेना का अफसर जिसने गोली चलाने का आदेश दिया और लार्ड जेट लैण्ड, भारत के राज्य सचिव।

ऊधमसिंह इस सारे नरसंहार का चश्मदीद गवाह था। उसने यह शपथ ली थी कि वह इस हत्याकाण्ड का बदला इन तीनो से लेगा। उसकी डायरी इस कथन की साक्षी है।

अपने इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह जहाज से विदेश रवाना हो गए और पहले दक्षिण अफ्रीका पहुँचे। यहाँ से वह अमरीका चले गये। यहाँ उनकी मुलाकात उन भारतीय क्रान्तिकारियो से हुई जो अपने देश की आजादी के लिए सक्रिय थे।

१९२३ मे वे इंग्लैण्ड पहुँचे। लेकिन १९२८ मे उन्हें अपने दोस्त भगतसिंह के बुलाने पर हिन्दुस्तान लौटना पड़ा। जब वे लाहौर पहुँचे, तो शस्त्र संहिता का उल्लंघन करने के आरोप मे उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। एक बनावटी मुकदमे के बाद उनको चार वर्ष के कठोर कारावास की सजा दे दी गई। जब २३ मार्च, १९३१ को लाहौर सेण्ट्रल जेल मे भगतसिंह को फाँसी हुई थी तब ऊधमसिंह एक दूसरी जेल मे बन्द थे और उन्हे १९३२ मे रिहा किया गया। कुछ दिन तो उन्होने अमृतसर मे एक दुकान भी खोली थी जिस पर लिखा हुआ था—"राम मोहम्मद सिंह आजाद"। इस नाम से स्पष्ट है कि यह सारे भारत की एकता का प्रतीक था।

सन् १९३३ मे पुलिस को चकमा देकर वह जर्मनी के लिए रवाना हो गये। बर्लिन से वह फिर लन्दन पहुँचे और अपनी दिली इच्छा को मन के अन्दर छुपाए एक इंजीनियरी से सम्बन्धित प्रशिक्षण मे दाखिला ले लिया। उन्होने अपना नाम कई बार बदला। कभी उदेसिंह रखा, कभी शेरसिंह, कभी फ्रेंक बजिल और कभी राम मोहम्मद सिंह आजाद। जलियावाला बाग कभी-कभी धमनियो मे आक्रोश भर देता था और वह बदले की भावना से उबलने लगते थे। इस समय तक जनरल डायर मर चुका था लेकिन सर माईकल ओ'डायर और लार्ड जेट लैण्ड जिन्दा थे। वह छाया की तरह इनका पीछा करता रहा और उनकी गतिविधियो पर अपनी पैनी नजर रखी। उसने एक पिस्तौल खरीद ली थी और बदले के लिए पूरी तरह तैयार था। वह रोज पिस्तौल को साफ करता और मौके की तलाश मे घूमा करता। पर दिन महीनो मे बदलते चले गये और महीने सालो मे और उसे कोई उचित अवसर न मिला।

यह अवसर १३ मार्च, १६४० को आया। इस दिन सर माइकल ओ'डायर और लार्ड जैट लैण्ड दोनों एक साथ रायल सेण्ट्रल एशियन सोसायटी और ईस्ट-इण्डिया एसोसिएशन द्वारा कैक्सटन हाल में आयोजित अफगानिस्तान के सम्बन्ध में एक परिसम्वाद में भाग लेने के लिए उपस्थित हुए। लार्ड जैट लैण्ड इस सेमिनार के अध्यक्ष थे और उन्हें इसका उद्घाटन करना था। ऊधमसिंह शान्त मुद्रा में वहाँ उपस्थित रहा और मंच के एकदम सामने चार-पाँच पंक्तियाँ छोड़कर बैठ गया। सर माइकल ओ'डायर ने अपना जोशीला भाषण दिया। हमेशा की तरह वह भारत के विरोध में था और उसने शासन को अपनी नीति सख्त किए जाने की सलाह दी थी। ज्यों ही वह अपना भाषण समाप्त कर अपनी कुर्सी की ओर मुड़ा और सचिव धन्यवाद देने के लिए खड़े हुए, ऊधमसिंह एकदम खड़ा हो गया और अपनी पिस्तौल निकालकर सर माइकल ओ'डायर पर गोलियाँ दागनी शुरू कर दीं। वह चूँ भी न कर सका और मर गया। उस समय शाम के साढ़े चार बजे थे। लार्ड जैट लैण्ड को भी गोलियाँ लगीं, वे घायलावस्था में ले जाए गए।

चारों ओर हड़कम्प, उथल-पुथल और भाग-दौड़ मची हुई थी। ऊधमसिंह चाहता तो इस शोरगुल में भाग सकता था। किन्तु वह एक बहादुर की तरह अपनी जगह पर चुपचाप खड़ा रहा और खुद ही चिल्लाकर कहा कि उसने सर माइकल को मार दिया है और दूसरे किसी आदमी को डरने की जरूरत नहीं है।

ऊधमसिंह को २ अप्रैल, १६४० को अदालत के समक्ष प्रस्तुत किया गया। यह उसकी जिन्दगी का सबसे सुनहरा अवसर था जब उसने न्यायाधीश के सामने निम्नलिखित बयान दिया: "मैंने यह हत्या इसलिए की है कि मुझे इस इन्सान से नफरत थी। उसे जो सजा मिली है वह इसके काबिल था। वह सच्चे अर्थों में एक अपराधी था। वह मेरे देश के लोगों की आत्मा की हत्या करना चाहता था। इसलिए मैंने उसकी हत्या कर दी। अगर आप सच मानें तो मैं पूरे २० वर्ष तक इस बदले को लेने के लिए यहाँ-वहाँ घूमता रहा हूँ। मुझे खुशी है कि मैंने अपना काम पूरा कर लिया है। मैं मृत्यु से नहीं डरता। मैं जवान मौत मरना चाहता हूँ, बूढ़ा होकर या अपाहिज होकर मरने से क्या लाभ? मैं अपने देश की जनता के लिए अपने प्राण त्याग रहा हूँ। मैं अपने देश के लिए उत्सर्ग हो रहा हूँ। क्या लार्ड जैट लैण्ड भी मर गये हैं? उनको जरूर मरना चाहिए। मैंने उनके शरीर में भी गोलियों से सीधा वार किया था।

'मैंने अपनी आँखों से देखा है कि अंग्रेजी हुकूमत में भारत की जनता भूखों मर रही है। मैं उसके विरोध में यह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा हूँ। यह मेरा कर्तव्य है। इससे ज्यादा सम्मान मुझे क्या दिया जा सकता है कि अपनी प्यारी मातृभूमि के लिए मैं मृत्यु को वरण करूँ।"

न्यायाधीश द्वारा उनका नाम पूछे जाने पर ऊधमसिंह ने जवाब दिया, "मेरा नाम ऊधमसिंह नही है। मेरा नाम राम मोहम्मद सिंह आजाद है।" राम शब्द का प्रयोग हिन्दू के लिए, मोहम्मद मुसलमान के लिए, सिंह सिख के लिए और आजाद अपने देश की आजादी के लिए किया गया था। ऊधमसिंह ने अदालत के समक्ष आगे कहा कि, "मैं किसी भी प्रकार की सजा भुगतने के लिए तैयार हूँ। चाहे वह सजा १० वर्ष की हो चाहे २० या ५० साल की या फिर सजाए मौत।"

इंग्लैण्ड की पुरानी बेरी कोर्ट ने उसको मृत्युदण्ड प्रदान किया। इसी अदालत ने ३१ वर्ष पहले यही सजा एक और भारतीय क्रान्तिकारी मदनलाल धींगड़ा को दी थी।

ऊधमसिंह लन्दन की ब्रिक्स्टन जेल में बन्दी बना दिया गया। जेल से अपने दोस्तों को लिखे गये पत्रों मे उसने साफ लिखा था कि उसे कानून से बचाने के लिए न तो कोई प्रयास किए जाएँ और न धन खर्च किया जाए। उसका आग्रह था कि इस सहायता के बजाय उर्दू और पंजाबी में लिखी कुछ अच्छी किताबें, खास तौर पर भारतीय इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकें, उसे पढने को भेजी जाएँ।

जब कोई उन्हें 'कैदी' नाम से बुलाता था तो उन पर तुरन्त प्रतिक्रिया होती थी। जेल मे लिखे हुए अपने पत्र मे उन्होने कहा था, "मैं कैदी नही हूँ। मैं तो इंग्लैण्ड की *महारानी का सरकारी मेहमान हूँ। वे मेरे आराम का बहुत ध्यान* रखती है।" १५ मार्च, १९४० को उसने अपने मित्र सिंह को लिखे गये पत्र मे कहा था, "क्या आप मुझपर यह कृपा कर सकते हैं कि यहाँ व्यस्त रहने के लिए कुछ किताबें मुझे तुरन्त भेज दें। मेरे पास यहाँ समय-ही-समय है और जिस जेल मे मुझे कैद किया गया है वह भी बहुत आरामदेह है। लेकिन मैं इससे भी अच्छे किसी स्थान पर जाने के लिए प्रयत्नशील हूँ। यदि आपको असुविधा न हो तो उर्दू और गुरमुखी मे लिखी कुछ किताबें मुझे डाक से जल्दी भेज दें। लेकिन एक बात और मैं आपको लिख रहा हूँ। आप मुझे धार्मिक पुस्तकें न भेजें। मैं उनपर विश्वास नही करता। मुझे पक्का विश्वास था कि मुझे कुछ किताबें सरदार मोहनसिंह से मिल जाएँगी। लेकिन वे इंग्लैण्ड से वापिस चले गए है और मुझे मालूम नही है कि उनकी जगह यहाँ के गुरद्वारे का प्रमुख कौन है। मैं एक कैदी हूँ और यह खत ब्रिक्स्टन जेल से लिख रहा हूँ। मुझे यहाँ रहना है। मुझे बहुत से अगरक्षक यहाँ मिले हुए है और मेरी देखभाल अच्छी तरह की जाती है। मुझे विश्वास है और यह मेरी इच्छा भी है कि इस मृत्युदण्ड के बाद मैं फिर जन्म लूंगा और तब तक तुम सब लोग बूढे हो चुके होगे। मैंने भी काफी दिनो तक इन्तजार किया है और तब यह फल पाया है। मैं अपना पत्र हिन्दुस्तानी मे नही लिख रहा हूँ लेकिन आप समझ ही गए होंगे कि मैं किस प्रकार की

किताबें चाहता हूँ। मुझे भारतीय इतिहास की कुछ किताबें और भारतीय समाचारपत्रों की जरूरत है।"

पत्र समाप्त करने के बाद पुनश्च के रूप में उन्होंने यह भी लिखा था, "एक सज्जन मुझे देखने यहाँ रोज आते हैं। वे भारत के किसी सांस्कृतिक दल के प्रमुख हैं और वे मेरा विश्वास ईसाई धर्म में पैदा करना चाहते हैं। मुझे लगता है कि वे अपना समय व्यर्थ बरबाद कर रहे हैं। मैंने यहाँ की मस्जिद के मौलवी को कुरान शरीफ की एक प्रति के लिए लिखा है। मैं उसे पढ़ना चाहता हूँ लेकिन मुझे विश्वास नहीं कि वे मुझे प्रति भेजेंगे। लेकिन मैं इसका बुरा नहीं मानूँगा। मैं तो आज भी मोहम्मदसिंह हूँ।"

ऊधमसिंह ब्रिक्स्टन जेल में कैदी न० १०१० के रूप में पहचाना जाता था। ३१ मार्च, १९४० को सवेरे जोहाल सिंह को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

"मैं पुस्तकें आपको वापिस लौटा रहा हूँ। आपकी बड़ी कृपा रही कि इन किताबों के सहारे मेरे दिन अच्छी तरह कट गए। क्या आप मुझे कुछ और किताबें भेजने का कष्ट उठाएँगे। मेरा वजन बढ़ गया है। कम-से-कम मेरा वजन उस समय से ५ पौण्ड बढ़ गया है जिस समय कि मैं शाही मेहमान बनकर यहाँ आया था। मुझे ज्ञात है कि इस देश में रहने वाले बहुत से भारतीय मेरे विरुद्ध हैं। लेकिन मैं उनकी कतई परवाह नहीं करता। मुझे इतनी जल्दी मरने का कोई गम नहीं है। मैं तो फाँसी के फन्दे से अपना ब्याह रचाऊँगा। मुझे कतई गम नहीं है क्योंकि मैं तो अपने देश का एक अदना सैनिक हूँ।"

अपने मित्र शहीद भगतसिंह का सन्दर्भ देते हुए उन्होंने कहा कि २३ मार्च, १९३० को कितनी प्रफुल्लता के साथ उन्होंने फाँसी के फन्दे को गले से लगाया था। ऊधमसिंह के शब्दों में : "करीब १० वर्ष मेरे मित्र को बिछड़े हुए हो गये हैं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि मौत के बाद मेरी उनसे मुलाकात होगी। वे वहाँ मेरा इन्तजार कर रहे होंगे। वह २३ मार्च का दिन था और मुझे उम्मीद है कि इसी तारीख को मुझे भी फाँसी पर चढ़ाया जाएगा।"

इसी पत्र में उन्होंने अपने देश के मित्रों से अपील की थी कि वे उन लोगों को व्यर्थ मेहनत करने से मना कर दें जो उनको बचाने के लिए कानूनी सलाहकारों की मदद लेने के लिए प्रयत्नशील हैं और उन्हें बचाने का प्रयास कर रहे हैं। ऊधमसिंह ने लिखा था—"यदि आपको पता लग जाए कि मुझे मदद करने वाले व्यक्ति कौन हैं तो कृपया उनको पैसा करने के लिए मना कर दीजिए। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि इस धनराशि का उपयोग मुझे बचाने की बजाय भारत में शिक्षा-प्रसार के लिए किया जाये।"

अपने अन्तिम पत्र में उन्होंने शिकायत की थी कि उनके मित्रों द्वारा जो

पुस्तकें उन्हें भेजी गईं वे पुस्तकें जेल के गवर्नर द्वारा उनको दी नही गई हैं। ऊधमसिंह के शब्दो मे—"जेल का गवर्नर बहुत सख्त आदमी है। हर पाँचवें मिनट मे उसका दिमाग बदल जाता है। उसने तमाम आदमियो को अपनी धार्मिक पुस्तकें पढ़ने की अनुमति दी हुई है। वे चर्च में भी जाते हैं। लेकिन अंग्रेजों की इस जेल मे शायद मैं ही एक अकेला प्राणी हूँ जिसके साथ बुरा सलूक किया जाता है! मुझे मालूम है कि वह मुझसे नफरत करता है। लेकिन उनकी परवाह कौन करता है! मैंने इन जैसे शरीफ आदमी पहले भी बहुत देखे हैं। लेकिन मैं यह मानता हूँ कि हमारी धार्मिक पुस्तकें बिना स्नान किए नही पढनी चाहिए और यहाँ तो मुझे १० दिन के बाद ही यह सुविधा दी जाती है। मुझे अत्यन्त खेद है कि मैंने व्यर्थ आपको पुस्तकें भेजने के लिए कष्ट दिया और डाक मे इतना पैसा खर्च कराया। मैं अदालत से पूछूंगा कि क्या ऐसी पुस्तकें जेल मे पढना अपराध है?"

ब्रिक्स्टन जेल से उनको पेण्टोनविला जेल मे तब्दील किया गया जहाँ उन्हें ३१ जुलाई, १९४० को फाँसी दे दी गई। अपने राष्ट्र के अपमान का बदला लेने के लिए वे २१ वर्ष तक प्रतीक्षा करते रहे।

पजाब सरकार और भारत सरकार के सयुक्त प्रयासों से शहीद ऊधमसिंह के अवशेष १९ जुलाई, १९७४ को भारत लाये गए। पालम हवाई अड्डे पर उनके अवशेषो की अगवानी के लिए देश के सभी प्रमुख नेता पहुँच गए थे। ये अवशेष २३ जुलाई तक दिल्ली में दर्शनार्थ रखे गए और फिर दिल्ली से चण्डीगढ होते हुए ३१ जुलाई, १९७४ को सुनाम पहुँचाए गए। सुनाम से उनको पवित्र गंगा में विसर्जन के लिए हरिद्वार ले जाया गया। रास्ते मे हजारों लोगों ने अमर शहीद को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। मार्ग के दोनो ओर जनसमूह एकत्रित था और अपने निर्भीक राष्ट्र भक्त की जय-जयकार कर रहा था जिसने कि अपने देश की आजादी के लिए प्राणो की आहुति दी थी।

जतीन्द्र नाथ दास

१३ सितम्बर, १९२९ को शाम के पाँच बजे लाहौर सेण्ट्रल जेल में एक २५ साल के युवक ने ६३ दिनों के अनशन के बाद जब आखिरी हिचकी ली, तो अंग्रेज सरकार की दीवारें हिल गईं। कहते हैं कि लाहौर शहर में इतना बड़ा जलूस अर्थी के साथ कभी नहीं देखा गया था। दास को गुलाब बहुत अच्छा लगता था। लाल गुलाब के फूलों से उसकी अर्थी सजाई गई थी। वह रेल का डिब्बा, जिसमें दास का शव कलकत्ता ले जाया गया, फूलों से लदा पड़ा था। इलाहाबाद रेलवे स्टेशन पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू अपने परिवार के साथ दास को श्रद्धांजलि पेश करने आये। दास एक व्यक्ति नहीं था, एक संग्राम था, एक लहर थी, एक ज्वार था जो समुद्र के किनारे तोड़ गया। दास ने भगतसिंह को बंगला सिखाई थी और बम बनाने भी। वह भगतसिंह का मित्र था और साथी भी। सबने मिलकर लाहौर जेल में बन्दियों की हालत सुधारने के लिए एक लम्बा अनशन किया। दास की अपनी हालत इस कदर बिगड़ गई कि पंजाब एसेम्बली में इस अनशन पर कई प्रश्न हुए।

मिस्टर जिन्ना ने एसेम्बली की इस बैठक में बढ़-चढ़कर भाग लिया। उन्होंने कहा, "दास का अनशन एक युद्ध की घोषणा है। आप जानते हैं कि ये लड़के प्राणोत्सर्ग के लिए कृतसंकल्प हैं। यह कोई हँसी-खेल नहीं है। हर कोई व्यक्ति आमरण अनशन प्रारम्भ नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अनशन करता है, उसकी आत्मा होती है। उसमें पूर्ण विश्वास होता है। ऐसा व्यक्ति न तो सामान्य मनुष्य होता है और न ऐसा अपराधी ही हो सकता है जो निर्मम हत्या का दोषी हो। सारी जनता इस घृणित सरकारी व्यवस्था का विरोध करती है। जनता जाग चुकी है। और यह भी याद रहे कि दास एक नहीं है बाहर हजारों नवयुवक हैं।"

जिन्ना के इस बयान से भी अंग्रेज सरकार टस से मस न हुई। दास की जान चली गई लेकिन आजादी के आन्दोलन में वह एक नयी रूह फूँक गया।

लाहौर जेल का दारोगा करनल बर्गाज एक कट्टर अफसर था लेकिन कभी-कभी कुछ ऐसी बात कर बैठता था कि अकल हैरान रह जाती थी। दास की अर्थी के लाल गुलाब के फूल करनल बर्गाज ने भेजे थे। उसी ने दास के छोटे भाई किरण शंकर दास को तार देकर कलकत्ता से लाहौर बुलवाया था।

किरण दास ने जेल के अंग्रेज दारोगा को साफ कह दिया कि वह कोई बन्दी नहीं है, उसपर आने-जाने की कोई पाबन्दी नहीं होगी। वह जेल में अपनी मर्जी से आएगा और अपनी मर्जी से जाएगा। उसकी तलाशी नहीं ली जाएगी। किरण दास की निडरता देखकर जेल के दारोगा को उसकी सारी बातें माननी पड़ी। इस तरह किरण दास ने लाहौर षड्यन्त्र केस मे जेल में बन्द बन्दियों और जेल के बाहर के उनके साथियों के बीच सम्पर्क बनाए रखने का बहुत बड़ा काम किया। यह वही किरण दास है जिसने जेल से सुखदेव, भगतसिंह, राजगुरु के फोटो चालाकी से बाहर पहुँचा दिये थे। सुखदेव और राजगुरु के तो केवल यही फोटो मिलते हैं। ये फोटो किरण दास ने इन वीरों के अपने कैमरे से लिये थे। जतीन्द्र दास का फोटो भी उसकी मृत्यु के दिन किरण दास ने ही लिया था। लेकिन जेल अधिकारियों को किरण दास के द्वारा किये गये इन कार्यों की कोई कल्पना तक न हो पायी। यही किरण दास सन् १६२७ मे सर चार्ल्स टेगार्ट पर घातक प्रहार करने के लिए बहुत निकट से पीछा करने के कारण गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिये गये थे।

जतीन्द्र दास दक्षिणी कलकत्ता मे भवानीपुर के निवासी थे। इसी जगह पर २७ अक्तूबर, १६०४ के दिन जतीन्द्रदास का जन्म हुआ था। वे स्कूल के विद्यार्थी ही थे जब उन्होंने विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक सेवा कार्यों मे भाग लेना प्रारम्भ किया। हैजा अथवा चेचक के प्रकोप के दिनो मे रोगियो की सेवा करने मे उन्होंने समय देना प्रारम्भ किया।

मैट्रिक की परीक्षा पास करने पर जतीन्द्र दास ने कलकत्ता के दक्षिण सबॅन कॉलेज भवानीपुर मे नाम दर्ज करवाया। यहाँ इण्टर पास करने के पश्चात् वे बी० ए० करने के लिए बंगवासी कालेज मे गये। किन्तु, सन् १६२५ मे बंगाल क्रिमिनल ला ऐक्ट के अन्तर्गत वे गिरफ्तार कर लिये गये। नजरबन्दी से रिहा होने पर बंगवासी कालेज मे पुनः अपना अध्ययन प्रारम्भ किया। अब उनकी सेवा भावना ने नया मोड़ लिया। उन्होने पददलित वर्ग तथा मजदूरो के बच्चो को शिक्षा देना प्रारम्भ किया। इसके लिए कई शालाएँ खोली गईं।

इसी समय बंगाल की राजनीति ने करवट बदली। जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड और असहयोग आन्दोलन की नयी लहर के पश्चात् बंगाल एवं उत्तर प्रदेश के पुराने क्रान्तिकारी असहयोग आन्दोलन की सफलता पर विचार करते हुए नये ढंग से क्रान्तिकारी आन्दोलन की आवश्यकता महसूस करने लगे थे। उत्तर

जतीन्द्र नाथ दास

प्रदेश के शचीन्द्र नाथ सान्याल कलकत्ता आये और उन्होंने उत्तर भारत के विभिन्न क्रान्तिकारी संगठनों के नेताओं की त्रैलोक्य चक्रवर्ती की उपस्थिति में दक्षिण कलकत्ता नेशनल स्कूल के भवन में बैठक बुलाई। इस बैठक में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का जन्म हुआ। शचीन्द्र नाथ सान्याल ने पार्टी के नियम तैयार किये और छाप दिये। यही किताब सभी क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं के लिए निर्देश पुस्तिका बन गई थी। चूंकि यह किताब पीले कागज पर छपी थी, काकोरी षड्यन्त्र केस में पीली पुस्तिका के रूप में इसका जिक्र किया गया है। यह पीली पुस्तिका जतीनदास की प्रेरणा से छपवाई गई थी और इन्हीं की वजह से हिन्दुस्तान रिपब्लिक एसोसिएशन का कलकत्ता केन्द्र खूब फला तथा नयी हिंसात्मक पार्टी एवं हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का सम्बन्ध मजबूत हुआ। इस काम को लेकर चटगांव शस्त्रागार लूटकाण्ड के सिलसिले में गणेशचन्द्र घोष के सम्पर्क मे आकर जतीनदास उनके मित्र बन गये। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के लिए जतीनदास का योगदान महत्वपूर्ण था। यूरोपियन फर्म में छोटी डकैतियों द्वारा उन्होंने पार्टी के लिए धन एकत्र कर *लिया था।* जतीनदास ने *देवेन बोस तथा प्रेमानन्द गुप्त को साथ लेकर* एक यूरोपियन पेट्रोल कम्पनी से दिन-दहाड़े रुपया छीना था। इसी रुपये से ६ पिस्तौल खरीदे थे। इसमे से दो जतीनदास ने बनारस केन्द्र को पहुँचाये थे। छोटे शस्त्र इकट्ठे करने में जतीनदास बहुत सफल रहे। इस कार्य मे कार्यकर्ता कुतुबुद्दीन ने भी इनकी सहायता की थी। रिवाल्वरों की दूनी कीमत तथा शराब की एक बोतल देकर जतीनदास ने रिवाल्वर मँगाने का इन्तजाम भी किया। शस्त्र संग्रह का सारा काम जतीनदास तथा बनारस के मुखर्जी के जिम्मे था।

जतीनदास ने कलकत्ता के एक छापाखाने के साथ पार्टी का सारा गुप्त साहित्य छापने की व्यवस्था भी की। इसी प्रेस मे पार्टी के पत्र 'क्रान्तिकारी' *की पहली प्रतियाँ बड़ी संख्या में* छपी। यह प्रचार पुस्तिका पूरे भारत मे एक ही दिन, एक ही समय पर वितरित की गई। इसी के द्वारा एक नयी पार्टी के आने की घोषणा की गई। जतीनदास और साथियों ने पेम्फलेट कलकत्ता और बंगाल के अन्य नगरों में बाँटे।

भगतसिंह जतीनदास के सम्पर्क मे आ चुके थे। इन्ही जतीनदास ने लाहौर षड्यन्त्र केस के अन्य अभियुक्तो के साथ देश के राजनीतिक बन्दियों के लिए दीर्घकाल तक अनशन कर सर्वोच्च बलिदान किया। इनके जैसा साहस तथा दृढ संकल्प संसार में बहुत कम देखा गया है। अनशन मे वास्तविक कठिनाई, भूख की वेदना तथा शारीरिक कष्ट सहन करके जतीनदास ने एक शानदार मिसाल कायम की। उनकी मृत्यु की दिशा से साहस और गौरवपूर्ण सफल यात्रा के प्रारम्भ से अन्त तक देखने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार जतीनदास

जो कि १४ जून, १६२६ को लाहौर षड्यन्त्र केस में पकड़ गये थे, ६३ दिन के अनशन के पश्चात् १३ सितम्बर, १६२६ को प्रभु को प्यारे हो गये और देश के लिए शहीद हुए। अनशन के दौरान जतीनदास सिर्फ पानी पिया करते थे। एक दिन सरकारी डॉक्टर ने पानी मे ताकत की कोई दवा मिलाकर उसे पिलानी चाही। जतीनदास ने पानी भी पीना छोड़ दिया। हालत अब इतनी बिगड़नी शुरू हुई कि एक दिन सरकार ने आठ हट्टे-कट्टे पठान उसको खुराक खिलाने के लिए भिजवाये। जतीनदास ने बहुत यत्न किया मगर उसका बस न चला। कहाँ आठ सेहतमन्द पठान और कहाँ लकड़ीनुमा जतीनदास। पठानो ने इसको जोर से पकड़ लिया और डाक्टर ने नाक मे नली डालकर जतीनदास के मेदे मे दूध डालना शुरू कर दिया। जतीनदास ने जब देखा कि पठानों की पकड ढीली पड़ गई तो उसने एक झटके से अपने आपको पूरा जोर लगा कर छुड़ा लिया। और खाँसने लगा। नतीजा यह निकला कि सभी लोग घबराकर उसे छोड़कर एक तरफ हो गये। दूध उसके फेफड़ो मे भर गया और रबड़ की नली खुराक की नली के बजाय साँस की नली मे चली गई जिससे दूध साँस की नली में जाने लगा। डाक्टर ने नली निकालकर दोबारा पेट तक पहुँचाई जिसकी वजह से वह बेहोश हो गया। जब सरकार ने देखा कि जतीनदास की हालत बहुत खराब हो रही है तो उसके छोटे भाई किरणदास को कलकत्ते से बुलाया। इसी तरह कई बार सरकार ने जतीनदास को खाना खिलाने की कोशिश की लेकिन कामयाब नही हुए। जतीनदास भगतसिंह की तरह खाना लौटाता नही था। वह देखना चाहता था कि खाना सामने पड़ा रहने से उसको कहीं लालसा तो नही पैदा होती है।

मृत्यु के पूर्व जतीनदास ने क्षीण स्वर में कहा था कि मैं केवल बंगाली नही वरन् भारतीय हूँ। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनका अन्तिम संस्कार लाहौर मे ही किया जाये। इस प्रकार उनकी अन्त्येष्टि कलकत्ता मे न होकर लाहौर में हुई। जतीनदास को गुलाब प्रिय थे। अतः उनकी अर्थी गुलाब के फूलो से सजाई गई। निश्चय ही जतीनदास भारत के ऐसे सपूत थे जिनपर सारे भारतवासियों को नाज है। भारत की अखंडता और एकता के वे आदर्श हैं।

जतीनदास का अनशन सफल रहा और सरकार को उनके सामने झुकना पड़ा। कुछ ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार ने राजनीतिक कैदियो को हर तरह की सुविधाएँ दे दी। इस विषय पर जो सरकार ने आदेश जारी किया उसको परिशिष्ट मे अगले पृष्ठों मे किया गया है।

बन्दियों एवं अभियुक्तों के वर्गीकरण पर सरकारी आदेश

प्रेस-विज्ञप्ति का मूल पाठ

□

जेल नियमों पर भारत सरकार के महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रेस विज्ञप्ति में घोषित किये जा रहे हैं, जो इस प्रकार हैं :

भारत सरकार कुछ समय से जेल नियमों में कुछ परिवर्तन करने के लिए सोचती रही है। इस विषय को स्थानीय सरकारों के पास भेजा गया था, जिन्होंने गैर-सरकारी लोगों से व्यापक सम्पर्क करने के पश्चात् अपने विचार भेजे हैं। इसपर प्रान्तीय प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया था और भारत सरकार ने लेजिस्लेटिव असेम्बली (विधान सभा) के कतिपय प्रमुख सदस्यों के साथ विचार-विमर्श भी किया। परोक्ष समस्याओं को कठिन एवं जटिल पाया गया है तथा इस विषय में पारस्परिक विपरीत विचारों की अभिव्यक्ति मिली है। भारत सरकार ने इन्हे वांछित महत्त्व देने का प्रयत्न किया है, यद्यपि प्राप्त प्रतिवेदनों को पूर्णतः स्वीकार करने में वह असमर्थ रही है। सरकार अधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को लेकर जिन निष्कर्षों पर पहुँची है और जो पूरे देश में व्यापक एकरूपता लाने का उद्देश्य लिये हुए है, अब घोषित किये जा रहे हैं।

बन्दियों का वर्गीकरण

सजायाफ्ता बन्दियों को तीन वर्गों में अथवा श्रेणियों में विभाजित किया जायेगा : ए, बी और सी (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय)। बन्दी प्रथम श्रेणी के अधिकारी होंगे, यदि (१) यदि उनका चरित्र अच्छा है और वे आदी बन्दी नहीं हैं, (२) वे अपने सामाजिक स्थान, शिक्षा एवं जीवनचर्या की आदतों के कारण बेहतर जीवन व्यतीत करने के आदी हैं, और (३) उन्हें इन अपराधों में दण्ड नहीं दिया गया है, (क) निर्दयता, नैतिक पतन अथवा व्यक्तिगत लालच के तत्त्वों; (ख) देशद्रोहपूर्ण और पूर्वनियोजित हिंसा; (ग) सम्पत्ति के विरुद्ध देशद्रोहपूर्ण अपराध; (घ) अपराध करने के उद्देश्य या अपराध करवाने के उद्देश्य से उनके पास विस्फोटक सामग्री, अग्नि-शस्त्र और अन्य घातक हथियार होने के अपराध, (ङ) इन उपधाराओं के अन्तर्गत अपराधों में सहायता अथवा प्रेरणा देना।

वे बन्दी द्वितीय श्रेणी के अधिकारी होंगे, जो अपने सामाजिक स्थान, शिक्षा

अथवा जीवन-यापन की आदतों के कारण बेहतर जीवन जीने के आदी होंगे। आदी अपराधियों को स्वत. अलग नहीं किया जायेगा। वर्गीकरण करने वाले अधिकारी को बन्दी के चरित्र, पूर्व-गतिविधियों को देखते हुए किसी बन्दी को इस श्रेणी में सम्मिलित करने की सलाह देने का अधिकार होगा, किन्तु इस संशोधन की स्वीकृति स्थानीय सरकार देगी।

तृतीय श्रेणी उन बन्दियों की होगी, जो प्रथम और द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आते।

वर्गीकरण का अधिकार हाईकोर्ट, सेशन जजों, जिला मजिस्ट्रेटों, स्टाइपेंड्री प्रेजीडेंसी मजिस्ट्रेटों, सब-डिवीजनल मजिस्ट्रेटों और प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों (अन्तिम दो को जिला मजिस्ट्रेट के मार्फत) को उन अभियोगों, जो उनकी अदालतों में चलाए गये थे या अन्य किसी मुकदमे में, होगा। प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी के लिए जिलाधीश स्थानीय सरकार को प्रारम्भिक सिफारिश करेगा, जो इन सिफारिशों पर स्वीकृति देगी या उनका पुनर्परीक्षण करेगी।

बन्दियों को सुविधाएँ

भारत सरकार के ध्यान में लायी गयी निर्णय-विषयक कतिपय भविष्यवाणियाँ इस तिहरे वर्गीकरण तथा बन्दियों की वर्तमान श्रेणियों के सम्बन्ध में पर्याप्त भयों की ओर संकेत करने वाली हैं। यह बात भलीभाँति समझ ली जानी चाहिए कि प्रथम श्रेणी के बन्दी इस श्रेणी को मिलने वाली सभी सुविधाओं के अधिकारी हैं। बन्दियों की कोई भी श्रेणी जाति-आधार पर अतिरिक्त सुविधाओं की अधिकारिणी नहीं है। वर्तमान में विशेष श्रेणी के बन्दियों को प्राप्त होने वाली सुविधाएँ प्रथम श्रेणी के बन्दियों को मिलती रहेंगी, जैसे कि पृथक् आवास, आवश्यक फर्नीचर, मेलजोल तथा व्यायाम की उचित सुविधाएँ, नहाने-धोने का उपयुक्त प्रबन्ध।

अन्य विषयों में निम्न निर्णय लिये गये हैं :

प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के बन्दियों को दिया जाने वाला भोजन तृतीय श्रेणी के बन्दियों को दिये जाने वाले भोजन से बेहतर होगा और उसका आधार प्रति बन्दी होगा। जिसके अन्तर्गत वास्तविक भोजन में अन्तर हो सकता है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के बन्दियों को दिये जाने वाले बेहतर भोजन का व्यय सरकार वहन करेगी। वर्तमान नियमों के अन्तर्गत विशेष श्रेणी के बन्दी अपने व्यय पर जेल के भोजन का पूरक लेने के अधिकारी हैं। यह सुविधा प्रथम श्रेणी के बन्दियों को मिलती रहेगी।

विशेष श्रेणी के बन्दियों को अपने कपड़े पहनने की सुविधा का नियम यथावत् रहेगा। यदि प्रथम श्रेणी के बन्दी सरकारी व्यय पर कपड़े पहनना चाहें

तो उन्हे वे कपड़े दिये जायेंगे, जो द्वितीय श्रेणी के बन्दियों के लिए निश्चित हैं। द्वितीय श्रेणी के बन्दी जेल के कपड़े पहनेंगे जो कुछ सीमा तक तृतीय श्रेणी के बंदियो के कपडो से कुछ अच्छे और सशोधित होगे।

आवास

प्रथम एव द्वितीय श्रेणी के बन्दियों के लिए पृथक् जेल वाछनीय है और इसे निर्धारित लक्ष्य समझना चाहिए, यद्यपि इसका निर्माण स्थानीय सरकार के पास उपलब्ध आर्थिक साधनो पर निर्भर होगा। सम्प्रति, भारत सरकार आशा करती है कि स्थानीय सरकारें जेलों के उपलब्ध साधनो का सावधानी से पुनर्मूल्याकन करेंगी और अपने अधिकार-क्षेत्र मे ऐसे कदम उठाएँगी कि इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

पृथक् आवास के अतिरिक्त, भारत सरकार प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के बन्दियो के साथ व्यवहार करने के लिए विशेष कर्मचारियो की आवश्यकता पर भी बल देती है, और उसका यह विचार भी है कि इस विषय में यथाशीघ्र ध्याम दिया जाना जाहिए।

उपर्युक्त सिद्धान्तो के अन्तर्गत, जिनकी महत्ता पर एक बार फिर बल दिया जा रहा है, प्रथम एव द्वितीय श्रेणी के बन्दियों को उनके स्वास्थ्य को देखते हुए तथा उनकी क्षमता, चरित्र, पूर्वजीवन-पद्धति तथा पूर्व चरित्र का सावधानी-पूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् ही काम दिया जाना चाहिए।

बन्दियों की बौद्धिक आवश्यकताएँ

भारत सरकार इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि पूर्व उपाय करने के पश्चात् सरकार द्वारा शिक्षित एवं साक्षर बन्दियों की बौद्धिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उचित सुविधाएँ दी जानी चाहिए। स्थानीय सरकारो से प्रान्तीय जेलो मे पुस्तकालय सुविधाओ का निरीक्षण करने को कहा जाएगा तथा जहाँ ये सुविधाएँ नहीं हैं अथवा ठीक नहीं हैं, तो वहाँ उन्हे सुधारने के लिये कदम उठाने को कहा जाएगा। साक्षर बन्दी जेल के बाहर से मँगाकर पुस्तकें व कापियाँ पढ़ सकते हैं, किन्तु उनके ऊपर जेल अधीक्षक की स्वीकृति अनिवार्य होगी।

प्रथम श्रेणी के बन्दियो को समाचार-पत्र उन्ही नियमो के अन्तर्गत मिलेंगे, जो नियम वर्तमान मे विशेष श्रेणी के बन्दियों पर लागू होते हैं, अर्थात् विशेष परिस्थितियो मे और स्थानीय सरकार की अनुमति के पश्चात्। जहाँ तक साक्षर वन्दियो का प्रश्न है, जहाँ स्थानीय सरकारें जेल-समाचार-पत्र का प्रकाशन करती हैं, अथवा जहाँ उनके प्रकाशन की योजना है, वहाँ साक्षर बन्दियो को सप्ताह मे

एक बार वह उपलब्ध होगा। जहाँ स्थानीय सरकारें साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने मे असमर्थ होंगी, वहाँ के लिए भारत सरकार ने निर्णय लिया है कि स्थानीय सरकार द्वारा अनुमोदित साप्ताहिक पत्र की कुछ पत्रिकाएँ सरकारी व्यय पर प्रथम एव द्वितीय श्रेणी के वन्दियों को उपलब्ध करायी जाएंगी।

प्रथम श्रेणी के वन्दियों को वर्तमान मे एक माह मे एक बाहर के स्थान पर पखवाड़े मे एक बार एक पत्र लिखने तथा एक बार पत्र प्राप्त करने की एव एक बार भेंट की सुविधा प्राप्त होगी। द्वितीय श्रेणी के बन्दियो को वर्तमान मे विभिन्न जेल-नियमावलियो के अन्तर्गत लम्बे काल की बजाय माह मे एक बार एक पत्र लिखने और एक पत्र प्राप्त करने एव एक बार भेंट की सुविधा प्राप्त होगी। भेंट के दौरान वन्दियों से की गयी वार्ताओं अथवा बन्दियो से प्राप्त पत्रों की सामग्री के आधार पर से इस सुविधा को वापस लिया जा सकेगा अथवा उसे कम किया जा सकेगा।

अभियुक्त(अण्डर ट्राइल) बन्दियों के साथ व्यवहार

भारत सरकार इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि उन अभियुक्त बन्दियों के साथ व्यवहार मे कुछ अन्तर करना वांछनीय है, जो सामाजिक स्थान, शिक्षा अथवा जीवनयापन की पद्धति के कारण बेहतर जीवनयापन के आदी हैं। अत. पूर्व जीवन-स्तर के आधार पर अभियुक्त बन्दियों की दो श्रेणियाँ होंगी। इस वर्गीकरण का अधिकार उस न्यायालय को होगा, जिसमें अभियोजन दाखिल किया गया है। इसका अनुमोदन जिला मजिस्ट्रेट करेगा। इनमे से पहली श्रेणी के अभियुक्तो को प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के वन्दियो को मिलने वाला भोजन दिया जाएगा तथा दूसरी श्रेणी के अभियुक्तो को तृतीय श्रेणी के वन्दियो जैसा भोजन दिया जायेगा। अभियुक्त बन्दी अपने व्यय से जेल अधिकारियों की मार्फत खरीद कर भोजन-पूर्ति कर सकते हैं। वर्तमान नियमों के अन्तर्गत वे अपने कपडे पहन सकते हैं। यह सुझाव दिया गया है कि यदि अभियुक्त बन्दियो के पास पूरे कपड़े न हो और वे बाहर से कपडे मंगाने मे असमर्थ हो, तो जेल अधिकारियों को उन्हे उचित कपडे उपलब्ध कराने चाहिए और ये कपडे कैदियो वाले नही होने चाहिए। भारत सरकार इस सुझाव को मानने के लिए स्थानीय सरकारों से सिफारिश करती है।

भारत सरकार का विचार है कि वर्तमान नियमो के उदार निर्वचन और अब प्रस्तावित संशोधनों तथा बेहतर बन्दी जीवन के प्रावधानो से जाँच के दौरान पाए गए वांछित सुधार हो सकेंगे। इसलिए वह आशा करती है कि स्थानीय सरकारें वर्तमान स्थिति को सुधारने के हर सम्भव प्रयत्न के साथ-साथ उपलब्ध स्रोतों का यथासम्भव अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगी। भारत सरकार

को प्राप्त अनेक दृष्टिकोणों में अभियुक्त बन्दियों में से जो परिपक्व अपराधी हैं अथवा जिन्हे गम्भीर अरोपो मे पकड़ा गया है और पहले जिन्हें कभी सजा नही हुई, को अलग-अलग रखने का सुझाव दिया गया है। इस विषय में भारत सरकार कोई और आदेश देने की आवश्यकता अनुभव नही करती क्योंकि वह समझती है कि वर्तमान मे यही व्यवस्था है।

अब स्थानीय सरकारों को अपनी जेल नियमावलियाँ इन सिद्धान्तो के आधार पर संशोधित करने के लिए, तथा जहाँ आवश्यक हो, बन्दी अधिनियम की धारा ६० के अन्तर्गत नियम बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। संशोधन होने तक इन परिवर्तनो को तुरन्त व्यावहारिक रूप देने के लिए स्थानीय सरकारों से भी प्रार्थना की जाती है।

करतारसिंह सराबा
(१८९६ से १६ नवम्बर, १९१५)

बहुत कम लोग जानते हैं कि भगतसिंह का आदर्श और श्रद्धेय वीर स्वतन्त्रता सग्राम का एक ऐसा सेनानी था जिसे उन्नीस साल की उमर मे लाहौर सैण्ट्रल जेल में अंग्रेज हकूमत का तख्ता उलटने की साजिश मे फाँसी पर लटका दिया गया था। इस शहीद का नाम था करतारसिंह सराबा, जो १६ नवम्बर, १८९६ को सराबा नाम के एक गाँव जिला लुधियाना में पैदा हुआ। खुदीराम बोस के बाद सराबा भारत का सबसे कम उमर का शहीद था।

भगतसिंह हर साल लाहौर मे करतारसिंह सराबा का १६ नवम्बर को शहीदी दिवस मनाता था। एक बार तो ब्रेडला हॉल लाहौर में दुर्गा भाभी ने सराबा की तस्वीर पर अपनी उँगली काटकर खून से टीका लगाया था। उस दिन उस जलसे मे जितने क्रान्तिकारी इकट्ठे हुए थे, उन सबने शपथ ली थी कि जब तक भारत आजाद नही होगा, वे चैन से नही बैठेंगे। सराबा एक क्रान्तिकारी ही नही थे बल्कि समाजवादी भी थे। कहते हैं कि करतारसिंह सराबा से मिलने के बाद डरपोक भी डरपोक नही रहता था। एक अंग्रेज अफसर के आँखों देखे बयान के अनुसार जब करतारसिंह ने फाँसी की रस्सी को चूमा तो आकाश से बादल इस जोर से गरजा कि जल्लाद के हाथ-पाँव काँपने लगे। फाँसी पर झूल जाने के कुछ क्षण पूर्व सराबा ने अपने बयान में कहा था कि अगर मुझे एक से ज्यादा जिन्दगी मिलती तो मैं अपनी हर जिन्दगी भारत माता के अर्पण कर देता और करता ही रहता जब तक भारत माता आजाद न होती।

अपने हिन्दी के लेख 'बागी करतारसिंह' मे भगतसिंह ने लिखा है—"रणचण्डी के उस परमभक्त बागी करतारसिंह की आयु उस समय बीस वर्ष की भी न होने पाई थी, जब उन्होने स्वतन्त्रता की बलि वेदी पर निज रक्तांजलि भेंट कर दी। आँधी की तरह वे एकाएक कहीं से आये, आग भड़काई, सुषुप्त रणचण्डी को जगाने की चेष्टा की, विप्लव यज्ञ रचा और उसी में स्वाहा

हो गये। वह क्या थे, किस लोक से एकाएक आये थे और फिर झट से किधर चले गये, हम कुछ भी न समझ सकें।"

करतारसिंह के पिता का नाम मगलसिंह था, जो एक सफल काश्तकार थे। अपनी मेहनत से उन्होंने अपनी भूमि को हरा-भरा कर दिया था। इनके खेतों को देखने के लिए लोग दूर के गाँवों से अक्सर आते थे। लोगों का कहना था कि मगलसिंह की जमीन सोना उगलती है। करतारसिंह सराबा के दादा सोहनसिंह ने कूका नेताओं को मलेर कोटला मे अंग्रेज की तोपो से शहीद होते देखा था। अपने दादा से कूका लहर की कहानियाँ करतारसिंह अक्सर सुना करता था। सराबा के प्राइमरी स्कूल का अध्यापक ब्यन्तसिंह मंगलसिंह का मित्र था। इस वजह से मंगलसिंह अपने बेटे को अच्छी से अच्छी शिक्षा देना चाहते थे। लेकिन प्रकृति को कुछ और ही मंजूर था। करतारसिंह अभी सात साल के थे कि मंगलसिंह का देहान्त हो गया। लेकिन ब्यन्तसिंह ने लड़के को बड़े शौक से पढ़ाया। वैसे भी करतारसिंह पढ़ाई मे बहुत होशियार थे। उन्होंने लुधियाना से मैट्रिक करके लाहौर में दाखिला भी ले लिया।

तभी करतारसिंह के जीवन में एक नया मोड़ आया। सराबा गाँव के कुछ लोग गदर आन्दोलन के सदस्य थे। वे अमरीका मे हिन्दुस्तानी गदर पार्टी के निमन्त्रण पर सैनफ्रासिस्को जा रहे थे। करतारसिंह अपनी शिक्षा को अधूरी छोड़कर उनके साथ हो लिये। वहाँ इनको गदर पार्टी के प्रेस का इंचार्ज बना दिया गया। प्रथम महायुद्ध शुरू हो चुका था और गदर पार्टी बड़ी तेजी से काम कर रही थी। एक मीटिंग मे करतारसिंह ने पार्टी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अंग्रेज की मुश्किल का फायदा उठाया जाये और अंग्रेज के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया जाये। उस समय गदर पार्टी के सबसे बडे नेता सरदार सोहन सिंह पक्खना थे और सचिव लाला हरदयाल, जिनकी पुस्तको ने हर हिन्दुस्तानी के दिल में देशभक्ति की भावना जगा दी थी। करतारसिंह एक पत्रिका 'गदर' निकालने लगे, जिसके वह स्वय सम्पादक बने।

यह पत्रिका चार भाषाओ मे छपती थी—अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी और पजाबी मे जोकि साप्ताहिक थी। यह अखबार रात्रि समय गोपनीय प्रेस मे छपता था। करतारसिंह रात के समय इसकी देखभाल करते थे। अमरीका से छपी यह पत्रिका भारत पहुँचती थी और फौरन फौजियो मे बाँट दी जाती थी। इस से भारतीय सिपाहियों मे बेचैनी फैल गई और वे अपनी मातृभूमि के लिए मर मिटने को तैयार हो गये। अंग्रेज सरकार ने इस पर्चे पर प्रतिबन्ध लगा दिया। लेकिन इसके बावजूद पर्चा छावनियो मे भारतीय सिपाहियो तक पहुँचता रहा। कई छावनियों मे इसकी कापियाँ जब्त कर ली गई। यह सिलसिला करीब दो साल तक जारी रहा।

उधर सैनफ्रांसिस्को में गदर पार्टी की हाई कमाण्ड ने सराबा को भारत भेजने का फैसला किया ताकि वह हिन्दुस्तान मे राजनीतिक स्थिति का जायजा ले सकें और एक रिपोर्ट तैयार करें। एक और काम जो सराबा को सौंपा गया वह यह था कि वह शस्त्र इकट्ठे करके गदर पार्टी के सदस्यों मे बाँट दें। लक्ष्य यह था कि हिन्दुस्तानी फौज को विद्रोह के लिए तैयार किया जाये और गोरों के राज को समाप्त कर दिया जाये। रासबिहारी बोस की योजना थी कि सारे भारत की छावनियों में एक ही समय में २१ फरवरी, १९१५ को विद्रोह किया जाये। अंग्रेज अफसरों को खत्म करके हिन्दुस्तान को आजाद करा दिया जाये। अगर यह योजना सफल हो जाती तो हिन्दुस्तान १९१५ में ही आजाद हो जाता। लेकिन अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारियों के बीच अपना एक जासूस भेजकर सारी योजना की एक नकल हासिल कर ली। रासबिहारी बोस की योजना इस प्रकार असफल हो गई। क्रान्तिकारी गिरफ्तार कर लिये गये। बहुतों को सख्त सजाएँ दी गईं और कइयों को फाँसी पर लटका दिया गया। करतारसिंह रासबिहारी बोस के बहुत नजदीक आ चुका था। कई इतिहासकार तो उसे रासबिहारी का दायाँ हाथ कहते हैं। गिरफ्तारियों के समय सराबा बोस के लाहौर वाले मकान में रहता था। बोस ने सराबा को गिरफ्तार नही होने दिया, बल्कि उसको एक क्रान्तिकारी नेता के साथ काबुल भेज दिया।

सराबा काबुल मे काफी दिनो तक रहा, जहाँ उसने भारतीय क्रान्तिकारियों को इकट्ठा किया। काबुल से भी उसने एक पत्रिका निकाली जो भारत में क्रान्तिकारियो मे बँटती रही। उधर भारतीय क्रान्तिकारी अपनी खबरें सराबा को भेजते रहे। सराबा अब बड़ा परेशान था कि वह काबुल मे अकेला क्यो बैठा है जबकि उसके सब साथी भारत में गिरफ्तार कर लिये गए हैं। उसने बोस को एक दर्द भरी चिट्ठी लिखी कि उसे भारत मे बुला लिया जाय। इस पर बोस ने सारी स्थिति पर गौर करके सराबा को हिन्दुस्तान वापिस बुला लिया। भारत पहुँचकर सराबा ने आगरा, मेरठ, बनारस और इलाहाबाद की छावनियो का दौरा किया। एक दिन अचानक जब वह सरगोधा छावनी मे एक मीटिंग कर रहे थे तो अंग्रेजी सिपाहियो ने उन्हें लाहौर फौजी साजिश का लीडर करार देकर गिरफ्तार कर लिया। सराबा पर अंग्रेज सरकार का तख्ता उलटने की साजिश का मुकदमा चलाया गया। मुकदमा क्या था, सिर्फ एक ढोंग था।

मुकदमे के दौरान, सराबा ने मदनलाल धींगडा का फाँसी से पहले वाला बयान दोहराया। उसने कहा कि उसकी पार्टी का लक्ष्य अंग्रेज हुकूमत को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म करना है, क्योंकि अंग्रेजों की हुकूमत हिंसा और अन्याय पर खड़ी है। मुट्ठी भर अंग्रेजों को इतने बड़े मुल्क पर हुकूमत करने का कोई हक नही। अंग्रेजो को भारत का माल भारत से बाहर ले जाने का भी कोई हक

नही। अग्रेज मैजिस्ट्रेट सराबा के इस बयान से बहुत प्रभावित हुआ। करतार सिंह की उमर इस समय सिर्फ १८ साल की थी। मैजिस्ट्रेट को सराबा की जवानी और खूबसूरती भा गई। उसने उन्हें अपना बयान बदलने को कहा ताकि वह सजा को कम कर सके। लेकिन सरावा ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। मैजिस्ट्रेट ने सराबा को मौत की सजा सुनाई और उनकी जायदाद भी जब्त कर ली।

जैसे कि अक्सर होता आया है—करतारसिंह के दादा और दूसरे रिश्तेदारो ने रहम की अपील की। कई अग्रेज अफसरो ने भी इनको यकीन दिलाया कि सराबा की फांसी भी उमरकैद मे बदल सकती है अगर करतारसिंह माफी मांग ले लेकिन करतारसिंह टस से मस न हुआ। जब रिश्तेदारो ने बार-बार कहा कि "करतारसिंह अपनी जिन्दगी बचा लो" तो करतारसिंह ने अपने दादा से पूछा कि मेरे पिता कैसे मरे थे ? तो दादा ने कहा कि हैजे से। फिर करतार सिंह ने किसी और रिश्तेदार का नाम लेते हुए पूछा कि वह कैसे मरे थे ? जवाब मिला प्लेग से। "हैजे और प्लेग से क्या फांसी बेहतर नही है ?" करतारसिंह *ने लोगो से पूछा। और १६ नवम्बर, १९१५ को वह फांसी पर लटक गया।*

भगतसिंह की आयु इस समय सिर्फ अठारह वर्ष की थी। लाहौर के ब्रेडली हॉल मे क्रान्तिकारियों की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण मीटिंग हुई जिसमे सराबा की मौत का बदला लेने का फैसला किया गया। सराबा के साथ एक और क्रान्तिकारी को मौत की सजा हुई थी जिसका नाम भाई पृथ्वीसिंह था। भाई पृथ्वी सिंह की फांसी की सजा को उमरकैद मे बदल दिया और बाद मे वह बाबा पृथ्वीसिंह कहलाए। बाबा आज ९३ वर्ष के हैं और भारत में सबसे अधिक *उमर वाले क्रान्तिकारी हैं। गदर पार्टी की बुनियाद १९१२ मे उन्होने ही रक्खी* थी। पिछले साल बूढ़ों की अन्तर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिता मे बाबा पृथ्वीसिंह आजाद ने कई तमगे जीते।

सराबा हमारे लॉली पॉप चूसने वाले धनेश्वरो और आराम कुर्सियों वाले वामपन्थियों के लिए एक चुनौती हैं। वे सराबा, धीगड़ा और भगतसिंह के अदालतों मे दिये हुए बयानों को दो के पहाडे की तरह प्राइमरी स्कूल के बच्चो के समान रट तो लेते हैं, परन्तु उनको समझने या उनपर अमल करने के काबिल नही हैं।

सराबा का सबसे ज्यादा प्रभाव भगतसिंह पर पड़ा। जितेन्द्रनाथ सान्याल अपनी पुस्तक 'अमर शहीद' में लिखते हैं—

'पजाब के क्रान्तिकारियो की गदर पार्टी मे अनेक नि.स्वार्थ देशभक्त नवयुवक थे। उनके वीरोचित कार्य, धीरोदात्त व्यवहार, उत्कट त्याग-भावना और हँसते-हँसते फांसी पर लटकने की निर्भीकता आदि बातो ने सरदार भगतसिंह

को अत्यधिक प्रभावित किया। इनमें से दो की तो भगतसिंह के मन पर अमिट छाप पड़ी। इनमें से एक था बीस वर्ष का विद्यार्थी करतारसिंह तथा दूसरा भाई प्यारासिंह। दोनों को फाँसी की सजा हुई। इन नवयुवकों ने देशभक्ति, त्याग बलिदान एवं प्राणोत्सर्ग से ज्योति जगाई। उसको सँजोकर सरदार भगतसिंह अपनी पार्टी के सदस्यों में ले गये, जिन्होंने उसे और प्रज्वलित कर तेजस्वी बनाया। हिन्दुस्तान प्रजातान्त्रिक संघ तथा हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ के रूप में ये संगठन पूर्व के 'गदर' आन्दोलन के ऐतिहासिक विकास की ही मंजिलें हैं। भगतसिंह एवं उनके साथियों ने करतारसिंह और उनके सहयोगियों से जो सन्देश एवं ज्योति पायी, उसे और भी आगे बढ़ाने का ही कार्य किया।"

लाला हरदयाल

"धर्म निजी मामला है, इसे राजनीति से अलग रखना चाहिए।" ये विचार लाला हरदयाल के थे जो आज भी उतने ही खरे हैं, जितने पहले थे।

लालाजी का जन्म १४ अक्टूबर, १८८४ को दिल्ली मे हुआ था। उनके पिता लाला गुरुदयाल जी दिल्ली की कोर्ट में रीडर थे। ये बड़े ही मेधावी छात्र थे। सेंट स्टीफेन्स कालेज से उन्होने बी०ए० में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त किया। उसके दो साल बाद उन्होंने अंग्रेजी और इतिहास मे एम०ए० किया और सभी पिछले रिकार्ड तोड दिये। पंजाब सरकार से उन्हें इंग्लैण्ड मे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति मिली। वहां वे पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्पर्क मे आये और उनमे देशप्रेम की ऐसी आग भडकी कि वे अपनी शिक्षा अधूरी छोडकर भारत आ गये और क्रान्तिकारी आन्दोलन में कूद पड़े।

उन्हें साथियों के रूप मे मास्टर अमीरचन्द, लाला हनुमन्त सहाय, दीनानाथ, जे०ए० चटर्जी जैसे लोग मिले। उन्होने देखा कि यदि वे भारत मे रहेंगे तो शीघ्र ही गिरफ्तार हो जाएंगे, इसलिए यहां का सारा काम मास्टर अमीरचन्द और हनुमन्त सहाय पर छोड़कर स्वयं विदेश चले गए।

विदेशो मे खासकर अमेरिका मे यह काम पहले ही शुरू हो चुका था और नागपुर के पाडुरंग सदाशिव खानखोजे जैसे लोग वहां पहले से मौजूद थे, जो लोकमान्य तिलक के प्रभाव के कारण बम बनाना सीखना चाहते थे। लाला हरदयाल १९०८ मे जब अमेरिका पहुँचे तो वहां उन्हे सुरेन्द्रमोहन बोस, अघोर चन्द लश्कर, खगेन दास, तारक नाथ दास, गिरीन मुखर्जी मिले। खानखोजे ने सैनिक अकादमी से डिप्लोमा प्राप्त किया और कैलिफोर्निया मे इण्डिया इण्डिपेण्डेन्स की स्थापना की, पर उसमे उन्हे विशेष सफलता नही मिली।

अमेरिका मे असली काम पजाब के लोगो ने ही किया। उन्होने 'गदर पार्टी' की स्थापना की। उसके अध्यक्ष बाबा सोहनसिंह, उपाध्यक्ष बाबा केशवसिंह, मत्री लाला हरदयाल और कोषाध्यक्ष प० काशीराम थे। लालाजी के अमेरिका

लाला हरदयाल

पहुँचने से पहले लन्दन मे मदनलाल धींगडा ने एक बड़े अफसर को मार दिया था, जिसके कारण लन्दन में उन्हें १७ अगस्त, १६०६ को पेन्टनविल जेल मे फाँसी हो गई। वीर सावरकर गिरफ्तार कर लिए गए और लाला हरदयाल निराश हो कर होनूलूलू चले गए।

बाल शास्त्री हरदास के अनुसार वहाँ पर उन्हे भाई परमानन्द मिले और उनके अनुरोध पर लालाजी भारतीय दर्शन का व्याख्यान देने लगे। उनके ओजस्वी भाषण से प्रभावित होकर वर्कले विश्वविद्यालय ने उन्हें संस्कृत तथा भारतीय दर्शन का प्राध्यापक पद दिया, परन्तु बाद में यह पद भी उन्होंने छोड दिया और वे गदर दल की ओर से निकलने वाले अखबार 'गदर' के सम्पादक बन गए। अध्यापक बरकतुल्ला और रामचन्द्र का भी इसमे हाथ था। बाद में शहीद हुए करतारसिंह सराबा भी इसमें पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर का काम करते थे। इस का पहला अंक १६१३ में युगान्तर आश्रम से निकला। इसके पहले अंक में कहा गया था, हमारे पत्र का नाम क्या है? 'गदर'। हमारा कार्य क्या है? 'गदर'। यह गदर कहाँ होगा? 'भारत मे'। कब होगा? 'कुछ सालों में।' क्यो होगा? 'क्योंकि भारत की जनता अब ब्रिटिश राज्य के अत्याचारों को सहते-सहते उकता चुकी है और अब आगे उसे झेल नही सकती।'

गदर पत्र मे छपने वाले लेखों मे यह स्पष्ट किया जाता था कि भारत में अंग्रेजो के शासन का अर्थ भारत की लूट है। एक ओर अपने लाभ के लिए ब्रिटिश सरकार सेना पर करोड़ो रुपए खर्च कर रही है, तो दूसरी ओर भारत की जनता भुखमरी की शिकार हो रही है। गदर मे उत्तेजक देशभक्तिपूर्ण कविताएँ भी छपती थी। दल की ओर से सभाएँ भी होती थी और श्रोताओ में इतना जोश होता था कि जब कभी चन्दे की अपील की जाती थी तो लोग तन, मन, धन देने को तैयार रहते थे। विश्व के किसी भी हिस्से में रहने वाला भारतीय गदर पार्टी मे शरीक हो सकता था। मार्के की बात यह थी कि गदर पार्टी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय था। उसमे धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त क्रियान्वित था और दल के बाहर या भीतर धार्मिक बहस करना सदस्यो के लिए मना था। 'गदर' मे लाहौर षड्यन्त्र का विस्तृत उल्लेख किया गया था। २१ फरवरी, १६१५ का दिन 'क्रान्ति' के लिए चुना गया था, परन्तु जब किरपालसिंह नामक भेदिये ने इसकी खबर अंग्रेजों को दे दी तो वह विफल हो गया।

यूरोप और अमेरिका में भारतीय क्रान्ति के लिए जो लोग प्रयास कर रहे थे, लाला हरदयाल उसके प्रमुख नेता थे। मार्च १६१४ मे ब्रिटिश सरकार के सुझाव पर अमेरिका मे लाला हरदयाल गिरफ्तार कर लिए गए, परन्तु कुछ अमरीकी क्रान्तिकारियो की मदद से वे जेनेवा चले गये। वे जर्मनी के शहंशाह कैंसर से भी मिले और उनसे भारत की स्वतंत्रता के लिए सहायता मांगी। परन्तु

उन्होंने अपना वचन नही निभाया और लाला हरदयाल की उनसे अनबन हो गई। जर्मनी युद्ध हार गया और लाला हरदयाल स्वीडन चले गए, जहाँ १५ साल तक वे लेख आदि लिखते रहे।

लाला हरदयाल का देहान्त अमेरिका मे फिलाडेलफिया में ४ मार्च, १९३९ को हुआ, पर इतिहास के पन्नो मे वे अमर हो गए।

□□□